देवर्षि नारद

श्रीभागवत-दर्शन

भागवती कथा

(चतुर्थ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन भवन
झूसी (प्रयाग)

॥ श्रीहरिः ॥

(ब्रजभाषा में भक्तिभाव पूर्ण, नित्य पाठ के योग्य अनुपम महाकाव्य

श्रीभागवतचरित

[रचयिता—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी]

श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण ये सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिन्दुओं के नित्य पाठ के अनुपम ग्रंथ हैं। हिन्दी भाषा रामायण तो गोस्वामी तुलसीदासजी कृत नित्य पाठ के लिये था, किन्तु भागवत नहीं थी, जिसका संस्कृत न जानने वाले भागवत-प्रेमी नित्य पाठ कर सकें। इस कमी को "भागवत चरित" ने पूरा कर दिया। यह अनुपम ग्रंथ ब्रजभाषा के छप्पय छंदों में लिखा गया है। बीच बीच में दोहा, सोरठा, छन्द, लावनी तथा सरस भजन भी हैं। सप्ताह क्रम से सात भागों में विभक्त है, पाक्षिक तथा मासिक पाठ के स्थलों का संकेत है। श्रीमद्भागवत की समस्त कथाओं को सरल, सरस तथा प्राञ्जल छंदों में गाया गया है। सैकड़ों नर-नारी इसका नित्य नियम से पाठ करते हैं, बहुत से कथावाचक पण्डित हारमोनियम तबले पर गाकर इसकी कथा करते हैं और बहुत से पंडित इसी के आधार से भागवत सप्ताह बाँचते हैं। लगभग नौ सौ पृष्ठकी पुस्तक सुन्दर चिकने २८ पौंड सफेद कागज पर छपी है। सैकड़ों सादे एकरंगे चित्र तथा ५-६ बहुरंगे चित्र हैं। कपड़ेकी टिकाऊ बढ़िया जिल्द और उसपर रंगीन कवरपृष्ठ है। बाजारमें ऐसी पुस्तक १०) में भी न मिलेगी। आज ही एक पुस्तक मँगाकर अपने लोक परलोक को सुधार लें। न्यो-छावर केवल ५.२५ न०पै० सवापाँच रुपये मात्र, डाकव्यय पृथक्।

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

विषय-सूची

जंगली गोपों द्वारा पराजित होने का शाप

(६०)

सोऽहं नृपेन्द्र ! रहितः पुरुषोत्तमेन,
सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेनशून्यः ।
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहमङ्ग रक्षन्,
गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि ॥१

(श्रीभा० १ स्क० १५ अ० २० श्लो०)

छप्पय

राजन् ! हरि ने ठग्यो घट्यो बल मेरो सबरो ।
गये सुदिन वे बीति अंत अब आयो हमरो ॥
अस्त्र न आवें याद शस्त्र सब भूले अबई ।
पुरुषोत्तम तैं रहित भयो गुण गमने सबई ॥
गंगा तट पै तापसी, शाप क्रोध करि जो दयो ।
सम्मुख आयो आजु वो, अबला सम मैं लुटि गयो ॥

विधि की कैसी विडम्बना है, काल की कैसी कुटिल गति है। संसारी सुख की सब वस्तुओं के रहते हुए भी मनुष्य दुखी से

---

१ अर्जुन जी महाराज युधिष्ठिर से कहते हैं—हे राजेन्द्र ! जिसने ऐसे-ऐसे पराक्रम के कार्य किये वही मैं आज अपने परम प्रेमास्पद

दिखाई देते हैं, इसके विरुद्ध बहुत से संसारी कुछ भी वस्तु न रहने पर सुखी प्रतीत होते हैं। यथार्थ बात तो यह है, वस्तु में सुख नहीं। समय की बलिहारी है। किसी समय जो वस्तु सुख देने वाली होती है, वही दूसरे समय दुःख की जननी हो जाती है। कभी जिससे विजय प्राप्त करते हैं, कुछ समय आने पर उसी से पराजय का सामना करना पड़ता है। जब अर्जुन ने बार-बार गोप भिल्ल जंगली जाति के दस्युओं द्वारा पराजय की बात कही, तब धर्मराज विस्मित होकर अर्जुन से पूछने लगे—'भैया' अर्जुन तूने कई बार यह बात कही, कि मुझे दस्युओं ने लूट लिया। उनसे पराजय हुआ। यह कब की बात है? इसके पूर्व तो तुमने कभी हमें यह बात सुनाई नहीं। क्या द्वारका पुरी से लौटते समय तेरे साथ यह घटना घटित हुई? कैसे तुझे जङ्गली गोपों ने जीत लिया? आभीर तुम्हारा सामना कैसे कर सके? क्या तेरे पास गांडीव धनुष नहीं था। और किस तापसी का शाप तुम्हें हुआ था जो सत्य हुआ? इन बातों को बताकर मेरी समस्त शङ्काओं का समाधान करो।"

धर्मराज के ऐसा पूछने पर रोते-रोते अर्जुन बोले—"राजन्! क्या कहूँ, कुछ कहते नहीं बनता। कहने में लज्जा भी आती है और ग्लानि भी होती है। अपने इस परिवर्तन से मेरा हृदय फटा जाता है, बार-बार घनश्याम की अहैतुकी

सखा और सुहृद् श्री कृष्ण से रहित होकर शून्यहृदय हो गया हूँ। महाराज! भगवान् की स्त्रियों को यहाँ ला रहा था, सो मार्ग में ही मुझे नगण्य जंगली गोपों ने एक अबला स्त्री की भाँति परास्त कर दिया। उनके सामने मेरा कुछ भी पुरुषार्थ न चला।

कृपा का स्मरण होता है। वे प्रेमवारि बरसाकर चले गये और फिर सूखा डालकर उगे हुए अंकुर को सुखा गये। जिस वेलि को प्रेमजल से सींचा था उसे कुकाल की गर्मी से जीवन-हीन बना कर जाने किधर भाग गये? यह गोपों द्वारा लुटे जाने की घटना अभी की है। द्वारका से लौटते समय ही यह हृदय को विकल बना देने वाली घटना घटित हुई। भगवान ने इसका आभास तो मुझे अपने सन्मुख ही करा दिया था किन्तु तब तक मैंने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। उस समय मुझे अपने गांडीव धनुष का, अपने बल पौरुष और दिव्यास्त्रों का अभिमान था। मैं सोचता था—मेरा कोई कर ही क्या सकता है? जिन अस्त्रों से भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसे महारथियों को परास्त किया है, उसका सामना संसार में दूसरा कौन कर सकेगा? मुझे अपने बाहु-बल से पराजित करने का साहस किसमें हो सकता है? यह बात तो अब मालुम हुई, कि वह बल मेरा नहीं था, बलदेव के छोटे भाई का बल था।

"महाराज! एक दिन की बात है, कि श्यामसुन्दर मुझे साथ लिये हुए गङ्गाजी से दूर बहुत बड़े बीहड़ वन में पहुँच गये। वैसे ही हम अनेक भृत्य सेवकों के सहित घूमने फिरने चले गये थे। सब साथियों को तो श्यामसुन्दर शिविर के समीप ही छोड़ गये। केवल मुझे साथ लेकर रथ में चल दिये। बहुत घने अरण्य में पहुँचने पर उन्होंने रथ भी छोड़ दिया, केवल हम दोनों ही पैदल-पैदल चले। उस समय गरमी के कारण हमें बड़ी प्यास लगी हुई थी, मुँह सूख रहा था, सम्पूर्ण शरीर से पसीना भी बह रहा था. चलते-चलते थक भी गये थे, भूख भी लगी हुई थी। पता नहीं, उस दिन श्यामसुन्दर को क्या सूझी थी? अपने आप ही तो काँटे बोये और अपने आप ही

घबड़ा कर मुझसे उसके प्रतीकार का उपाय पूछने लगे! वे मुझसे बोले—'अर्जुन' बड़ी प्यास लगी है भैया, कहीं जल मिले तो प्राण बचें।'

'मैंने झुँझला कर कहा—'आपको यह उचंग कैसे उठी? न कोई सेवक साथ लिया, न गङ्गाजल की झारी रखी, चल पड़े। अब गङ्गा जी भी यहाँ से दूर हैं, अब जैसा आप कहें?'

"श्यामसुन्दर उस दिन बड़े घबड़ा से रहे थे। व्यग्रता का नाटक कर रहे थे, नहीं तो वे तो भूख प्यास से सदा निर्मुक्त ही थे। बड़ी शीघ्रता से एक पेड़ पर चढ़ गये और इधर-उधर देख कर वहीं से प्रसन्नता प्रकट करते हुए बच्चों की तरह उछ-लते हुए बोले—'अर्जुन! अर्जुन! अरे यार! काम बन गया। यहीं कहीं पास में ही किसी तपस्वी का स्थान है। मुझे धुआँ दिखाई दे रहा है। वृक्षों से ढकी एक छोटी सी कुटी भी दीख रही है। अवश्य ही यहाँ कोई महात्मा रहते होंगे। चलो, वहाँ पानी भी मिलेगा और कुछ प्रसाद का भी डौल डाल लग जायगा। मुनियों के समीप कंदमूल फलों की क्या कमी?' इतना कहते-कहते झट से उतर आये। थोड़ी दूर चलने पर सचमुच एक लिपी पुती स्वच्छ सुन्दर कुटी दिखाई दी। जिसमें चारों ओर बड़े सुन्दर-सुन्दर फल और फूलों वाले वृक्ष लगे थे। बड़े-बड़े गहरों से लदे केले खड़े थे। गरमी से श्रान्त हम लोगों को आश्रम के दर्शन से ही बड़ी प्रसन्नता हुई। आश्रम के भीतर जाकर हमने देखा, एक तेज-पुंज तापसी बैठी हुई है। हम दोनों ने श्रद्धा सहित उस तपस्विनी को प्रणाम किया। उसने भी बड़े प्रेम से हमारा स्वागत-सत्कार किया।

हमें देखते ही वह उठी। झट से जल लाकर उसने हमारे हाथ पैर धुलाये। बिना कुछ पूछे ही सुन्दर-सुन्दर पके फल लाकर

हमारे सम्मुख रखे। स्वच्छ निर्मल शीतल जल दो पात्रों में

ले आई। हमें बड़ी प्यास लगी थी। पहिले तो भरपेट पानी पिया। जब जल पीकर चित्त स्वस्थ हुआ, मन में प्रसन्नता आई, तब शनैः-शनैः स्वाद के साथ उन फलोंको खाने लगे। कितने स्वादिष्ट थे वे अमृतोपम फल, उनमें से दिव्य गंध निकल रही थी और सभी रसीले मधुर तथा हृदय को आनन्द देने वाले थे। हम जब फल खा रहे थे, तो हमारी दृष्टि तापसी के पूजन के सिंहासन पर पड़ी। उस पर एक सुन्दर पुष्पों से सजी सजाई भगवान् की मनोहर मूर्ति विराजमान थी। उन पर मंजरी सहित सुन्दर हरी-हरी तुलसी जी के दल चढ़े हुये थे। खिले हुए सुन्दर सुगंधित पुष्पों से ढकी थी। भगवान् की ऐसी पूजा को देख कर हमारा मन अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। किन्तु पास में ही हमने एक ऐसा आश्चर्य जनक कार्य देखा कि उसे देख कर हमें भय भी हुआ और कुतूहल भी। भगवान् के सिंहासन के समीप ही तीन बड़ी बड़ी तलवारें लटक रही थीं। इतनी बड़ी खड्गें हमने बहुत ही कम देखीं थी वे तीनों गंध, अक्षत, धूप, दीप द्वारा पूजित थी। प्रतीत होता था, भगवान् की पूजा के साथ तापसी उन खड्गों की भी पूजा करती थी। मेरी तो कुछ समझ में ही नहीं आता था, कि इतनी सीधी सादी दया-भरी यह तापसी इस प्रकार की तीक्ष्ण तलवारों को रखकर क्यों पूजती है? मेरे विस्मय को देख कर और मेरी बढ़ी हुई उत्सुकता को समझ कर श्यामसुन्दर ने उससे पूछा—'देवि! हम आपसे एक प्रश्न करना चाहते हैं। हमें भय भी होता है और संकोच भी। यदि आप अनुचित न समझें और हमारी अशिष्टता को क्षमा कर दें, तो हम आपसे पूछें।'

"बड़े स्नेह से वह तापसी बोली—बेटा! अरे, कहीं तपस्वियों से ऐसा शिष्टाचार किया जाता है? तपस्वी तो सबको

अभयदान देकर ही तपस्या की दीक्षा लेते हैं। उनसे किसी को भी भय नहीं हुआ करता। तुम तो मेरे बच्चे के समान हो, तुम्हें जो पूछना हो निर्भय होकर पूछो।'

"भगवान् बोले—'यही तो मुझे माता जी! आश्चर्य हो रहा है कि आपके लिये तो संसार में सभी समान हैं। आपका कोई शत्रु नहीं। सभी आपसे अभय प्राप्त कर चुके हैं, फिर आप तपस्विनी होकर इन—एक नहीं तीन-तीन—तीक्ष्ण तलवारों को रख कर क्यों पूजा करती हैं? इसका रहस्य जानने की हमारी बड़ी इच्छा है। तपस्या में तीन-तीन तलवार रखना तो उसी प्रकार है जैसे खीर में नमक, मिर्च और हींग मिलाना, अथवा सुन्दर स्त्री के दाढ़ी मूँछ लगाकर उसका शृंगार करना या विवाह के समय—'रामनाम सत्य है, रामनाम सत्य है सत्य बोलें गत्य है, ऐसे मृतक कालीन शब्दों का उच्चारण करना। आप इसका हमें रहस्य बताइये। आप तपस्विनी होकर भी तलवार क्यों रखती हैं?'

"यह सुनकर बुढ़िया कुछ हँसी और बोली—'बेटा! वैसे तो संसार में मेरे लिये सभी समान हैं, किन्तु फिर भी मेरे तीन शत्रु हैं, उन तीनों को मारने के लिये ही मैंने ये तीन तलवारें रख रखीं हैं। यदि मेरी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान नन्दनन्दन मुझे मेरे शत्रुओं से मिला दें, तो मैं इनसे उनके सिर काट लूँ।'

"उस तेजस्विनी तपस्विनी के दमदमाते और क्रोधपूर्ण मुख मण्डल को देखकर मुझे भय सा होने लगा, किन्तु श्रीकृष्ण उसी प्रकार हँसते-हँसते उससे पूछने लगे—'माँ! हम तुम्हारे शत्रुओं के नाम भी तो सुनें? उन्होंने तुम्हारा ऐसा कौन सा

महान् अपराध किया है, जो संन्यासिनी होने पर भी आप उन्हें क्षमा नहीं कर सकी हैं ? यदि कोई छिपाने योग्य बात न हो तो हमसे कहिये। अपने शत्रुओं का परिचय कराइये।'

"बुढ़िया बोली—'बेटा ! मेरे शत्रु छिपे नहीं हैं, उन्हें जग जानता है। उनमें दो तो स्त्रियाँ हैं और एक पुरुष है। उनके तुम नाम सुनना चाहते हो ? अच्छा, सुनो—पहिली शत्रु तो मेरी यशोदा है, दूसरी द्रौपदी है और तीसरा शत्रु मेरा अर्जुन है।'

"उस बुढ़िया के मुख से अपना नाम सुनते ही मेरा मुँह सूख गया, शरीर पसीने-पसीने हो गया। देवराज से भी कभी न डरने वाला मुझे डर सा प्रतीत होने लगा। अपनी चेष्टा को छिपाने के लिये मै भगवान् के ओट में हो गया, किन्तु भगवान हँस रहे थे। हँसते-हँसते ही वे बोले—'माता जी ! इन लोगों ने आपका क्या बिगाड़ा है, कौन सा अपराध किया है, जिस कारण आप इन तीनों पर इतनी कुपित हैं ? इन तीनों के अपराध की बात आप हमसे सत्य-सत्य बतावें।'

"भगवान के ऐसा पूछने पर बुढ़िया का मुख क्रोध के कारण लाल हो गया। थोड़ी देर ठहर कर वह बोली—'बेटा, तुम क्या करोगे पूछ कर ? बात बड़े रहस्य की है। इन्होंने मेरे इतने बड़े अपराध किये हैं, कि इन तीनों को मैं कभी भी क्षमा नहीं कर सकती। इन्हें मारने के लिये ही मेरी तपस्या है।'

"भगवान बड़े प्रेम से बोले—'माँ जी, आप हमसे कुछ छिपाय न करें, हमें सब बात यथार्थ बतावें। हम शक्ति भर आपकी सहायता करेंगे।'

"बुढ़िया बोली—'अच्छी बात है, बेटा! तुम सुनना ही चाहते हो, तो सुनो। सब से बड़ा अपराध तो मेरा यशोदा ने किया है। मेरे नील-कमल के समान सुन्दर, नवनीत से भी अधिक कोमल, परम सुकुमार श्यामसुन्दर को नेक माखन के पीछे मूँज की रस्सी से बाँध दिया। हाय! उस ग्वालिनी को दया भी नहीं आई। कितने मनोहर मेरे श्यामसुन्दर हैं! अरे, उस माखन को क्या करती? भाड़ में डालती? सब श्यामसुन्दर की प्रसन्नता के लिये ही तो है। उन्होंने खा लिया, खा लिया, अपने वस्तु में कहीं चोरी होती है? चोरी ही सही तो कहीं ऐसे बाँधते हैं?'

"भगवान् बोले—'माता जी! यशोदा मैया तो श्रीकृष्ण को माखन खिलाने को सदा व्यग्र बनी रहती थी किन्तु कृष्ण को चोरी की लत पड़ गई थी, मैया को क्रोध माखन खाने पर नहीं आता था। चोरी से उन्हें चिढ़ हो गयी थी कि अभी से बच्चा चोरी सीख जायगा तो बुरी बान पड़ जायगी। फिर मैया को सबसे अधिक क्रोध तो उस सास ससुर के सामने से चले आये युगादि माट के फोड़ने से हुआ, जिसे श्रीकृष्ण ने अकारण ही फोड़ दिया था। माखन खाकर ही कृष्ण चले जाते तो सम्भव था माँ रस्सी से न बाँधती।'

"यह सुनकर बुढ़िया बड़ी कुपित हुई और भगवान् को डाँटते हुए बोली—'छिः छिः! तुम कैसी बातें कर रहे हो। मिट्टी के माट के प्रति तो इतना ममत्व और मेरे मदनमोहन के साथ इतनी क्रूरता! माट फूट गया, फूट जाता, एक सेर घी पी लेने से माट चिकना हो जाता है। यह और भी बड़ा अन्याय है, कि मिट्टी के बर्तन के पीछे मेरे मुनमुना से मन

मोहन की कमर को कस देना। तुम्हीं बताओ—यह उसने अच्छा किया ?' संसार उसे क्षमा कर दे किन्तु मैं उस अहीरिनी को कभी क्षमा नहीं कर सकती। यह सामने की तलवार उसी का सिर काटने को मैंने रख रखी है। नित्य उसकी पूजा करती हूँ।'

"बात को बदलते हुए बनवारी बोले—'अच्छा, माँ जी! यशोदा मैया के अपराध की तो बात सुन ली, अब द्रौपदी के अपराध की बात हम और सुनना चाहते हैं, उसने आपका कौन सा अपराध किया ?'

"बुढ़िया आवेश के साथ बोली—'द्रौपदी की बात मत पूछो उसने इतना बड़ा अपराध किया है, कि यशोदा को तो मैं किसी तरह छोड़ भी दूँ, उसे किसी भी दशामें नहीं छोड़ सकती। मेरे श्यामसुन्दर द्वारका में बैठे रुक्मिणीजी के महलों में प्रसाद पा रहे थे। उसी समय इस लुगाई ने दुश्शासन के चीर खींचने की टेर लगाई—'हे श्यामसुन्दर! मेरी लाज बचाओ, मुझे नंगी मत होने दो!' मेरे मदनमोहन हाथ का कौर हाथ में, मुँह का कौर मुँह में ही लिये, लैयाँ-पैयाँ वहाँ से भागे और उन्हें कौरवों की सभा में आकर वस्त्र बनना पड़ा। वस्त्र भी किसी पुरुष का नहीं, लुगाई का बनना पड़ा। ऐसी वैसी लुगाई भी नहीं, उस लुगाई का जो मासिक-धर्म में थी, रजस्वला थी। जिसे शास्त्रकारों ने छूने का कौन कहे देखने का भी निषेध किया है। तीन दिन जिस पर ब्रह्म-हत्या बताई गई है, उसकी साड़ी में छिपना पड़ा।'

"भगवान् बोले—'माताजी! स्त्रियों की लज्जा ही तो सर्वस्व है, एक कुलवती वधू अपने ज्येष्ठ ससुर के सामने अनावृत कैसे हो सकती है ? उसने विवश होकर ऐसा किया होगा।'

"घुड़ककर वह तपस्विनी बोली—'तू कैसी बातें कर रहा है, रे लड़के ! लज्जा, लज्जा, काहे की. लज्जा ? इस हाड़-चाम के बने शरीर में लज्जा करने की कौन सी वस्तु है ? किसी भी अंग में पंचभूतों के अतिरिक्त कोई वस्तु हो तो उसे मुझे बताओ। रस, रक्त, मांस, मज्जा, मेदा, अस्थि, रज, वीर्य, मूत्र, विष्ठा, केश, रोम, शिरा, नाड़ी इनके अतिरिक्त इस शरीर में क्या है ? सभी अंग इन्हीं चीजों से बने हैं। किसी अंग में कोई विशेपता नहीं। जिन वस्तुओं के हाथ, पैर मुँह आदि बने हैं उन्हीं से सब गुप्त प्रकट इन्द्रियाँ बनी हैं। इसमें लज्जा की कौन सी बात ? नंगी ही हो जाती तो उसका क्या बिगड़ जाता ? हो जाती ! मेरे श्यामसुन्दर को इतना कष्ट तो सहन नहीं करना पड़ता ? उनके सुख में विघ्न तो न पड़ता।

"भगवान् बोले—'माताजी ! भक्त अपने भगवान् से दुःख में सब कुछ कहता है।'

"बुढ़िया बोली—'ऐसी भी क्या भक्ति ? अपने सुख के लिये अपने इष्ट को कष्ट देना। अपने काम के लिये भगवान् के कार्यों में विक्षेप डालना। मैं तो इसे भक्ति नहीं मानती और इसीलिये उन पांडवों की मेहरारू के ऊपर मुझे बड़ा क्रोध आ रहा है। यह बीच वाली तलवार उसी के लिये मैंने रख छोड़ी है कि जहाँ वह मुझे मिल जाय, वहीं उसका सिर धड़ के अलग कर दूँ। उसके अपराध की बात याद आते ही मेरे वृद्ध शरीर में बल आ जाता है, रग-रग में रक्त दौड़ने लगता है।'

"भगवान् हँसते हुए बोले—'अच्छी बात है, अर्जुन के अपराध को हम और सुनना चाहते हैं। उस पर आप इतनी क्यों कुपित हैं ?'

दाँत पीसकर वह बुढ़िया कोप के स्वर में कहने लगी। मैं मन ही मन डर रहा था, सोच रहा था—'इस बुढ़िया को मैंने कभी देखा नहीं, इससे कभी बातें नहीं की, फिर भी यह मुझसे इतनी कुपित है। मैंने ऐसा कौन सा अपराध किया! श्यामसुन्दर को मैं प्राणों से अधिक प्यार करता हूँ। उनकी प्रत्येक उचित-अनुचित आज्ञा का पालन करता हूँ। पता नहीं मुझ पर वह क्या दोष लगावेगी। भगवान् के पीछे छिपा हुआ मैं यही सब सोच रहा था। उस बुढ़िया की ओर ताकता भी नहीं था, कि कहीं मेरे मनोभावों को ताड़ कर यह अभी न मुझे तलवार के घाट उतार दे। मैं उसकी आकृत से भयभीत हो रहा था। वह उसी आवेग में भर कर कहने लगी—'बेटा। इन दोनों से बढ़कर अपराधी अर्जुन है। उस पर तो मुझे बहुत ही क्रोध आ रहा है। हाय, तनिक सी वाहवाही के लिये उसने मेरे श्यामसुन्दर से रथ हँकवाया। अरे मन्दमति! विजय-पराजय—ये वर्षों के खेल हैं। हार ही जाता तो उसका क्या बिगड़ जाता? मेरे मदनमोहन सुन्दरश्याम को इतना कष्ट तो न सहन करना पड़ता। उनके सुस्निग्ध, कोमल श्री अंगों में निरन्तर बाण तो न लगते। उनके नील जलधर के समान मनोहर श्री अंग से रक्त की धारायें तो न बहतीं। हाय! उस कुन्ती के छोकरे ने कैसा क्रूर कार्य किया?'

"यह कहते-कहते बुढ़िया फूट-फूट कर रोने लगी। मेरे मन में भी आया कि हाँ, बुढ़िया यह तो ठीक कह रही है। मैंने केवल विजय के लोभ में ही श्यामसुन्दर को सारथ बनाया। सोचा था—'श्यामसुन्दर के रहते, मेरा कोई बाल बका भी नहीं कर सकता। उनकी उपस्थिति में मेरा पराजय असम्भव है। उनके रथारूढ़ हो जाने पर मेरी विजय में कोई सन्देह नहीं।

सचमुच में वध करने योग्य हूँ। मेरी भी आँखों में आँसू आ गये, किन्तु बुढ़िया की उधर दृष्टि ही नहीं थी। श्यामसुन्दर उससे स्नेह वश बोले—'माताजी! आप शोक न करें। श्यामसुन्दर को तो बाण लगे ही नहीं।'

"बुढ़िया हिचकियाँ भरते हुए बोली—'द्रोण और भीष्म जैसे योद्धा बाण छोड़ें और रथी सारथी उनसे बच जायँ, यह असम्भव है, तुम मुझे भुलाओ मत। मिल जाने पर यह जो सबसे अन्त की तलवार है, उससे अर्जुन का अवश्य ही वध करूँगी।'

"यह सुनकर अत्यन्त ही मधुर स्वर में भक्त वत्सल भगवान् वासुदेव बोले—'माता जी! तपस्या में ऐसा क्रोध नहीं किया करते, यह तपस्या का विघ्न है। इन तीनों ने जो भी कुछ किया शत्रुता से नहीं किया, प्रेम के वशीभूत होकर ही इन्होंने ऐसे आचरण किये, प्रेम में मर्यादा नहीं रहती। वहाँ शिष्टचार के भी पैर नहीं जमने पाते। प्रेम से जो भी कुछ किया जाय सब उचित ही होता है। वहाँ अनुचित तो कुछ होता ही नहीं। यशोदा ने ऊपर के भाव से ही श्यामसुन्दर को बाँधा था, उसके हृदय में तो अपार प्रेम भरा था। वह ऊपर से ही श्यामसुन्दर को घुड़कती थी, भीतर तो उसका हृदय पिघल रहा था। जनार्दन तो भाव ग्राही है, उसके आन्तरिक भाव को देखकर वे इसके ऊपर प्रसन्न ही हुए। रस्सी से उन्हें क्या कष्ट होना था, रस्सी उनसे अलग थोड़े ही है?'

"रही द्रौपदी की बात, सो उसने तो यही सिद्ध किया कि संसार में श्रीकृष्ण से बढ़कर अपना कोई हितैषी, प्रेमी और

रक्तक नहीं। इसीलिये उसने भगवान् को पुकारा। भगवान् को वस्त्र में घुसने से कोई कष्ट थोड़े ही हुआ। उनके लिये ऊँच-नीच कुछ है ही नहीं, ऊँच-नीच का ही उन्हें विचार होता तो लोक निन्दित सुअर, मछली, कछुआ आदि योनियों में अवतार धारण क्यों करते? फिर वस्त्र में तो वे पहले ही से विद्यमान थे, केवल उस समय अपना रूप विस्तार कर दिया था। वे द्रौपदी की इस एक निष्ठा से प्रसन्न ही हुए, उन्हें कुछ भी कष्ट नहीं हुआ!'

"अब अर्जुन ने सारथि बना कर श्यामसुन्दर को कष्ट क्यों दिया, इसका भी कारण सुनो। पृथ्वी पर राजाओं के रूप में असुर बढ़ गये थे। वे महाबली राजचिह्न धारण किये हुये असुर, धर्म-कर्म भी करते थे और साथ ही क्रूरता भी करते थे। पापी का नाश तो उसका पाप ही कर देता है, किन्तु जो तपस्या के बल से अपने को अजर-अमर बना लेते हैं, धर्म-कर्म को करते हुए भी साधु पुरुषों को कष्ट देते हैं, उनका बध भगवान् के सिवाय कोई कर ही नहीं सकता। इसलिये उन सब का वध करने के निमित्त श्यामसुन्दर स्वयं ही स्वेच्छा से सारथि बने। अर्जुन की क्या शक्ति थी, जो उनसे रथ हँकवा सकता। भगवान् को तो दुष्टों का संहार करना ही था। अर्जुन को उन्होंने निमित्त मात्र बना लिया। अतः हे देवि! तुम अपने इस विचार को बदल दो। इन तीनों के ऊपर उठे हुये क्रोध का परित्याग करो। इन तीनों के तलवार को फेंक दो और निश्चिन्त होकर भजन करो।"

"भगवान की ऐसी बातें सुनकर अत्यन्त आश्चर्य के साथ उस बुढ़िया ने पूछा—'आप कौन हैं, जो ऐसी रहस्य की भीतरी बातें बता रहे हैं?

"यह सुनकर भगवान् बोले—'मैं ही वसुदेव का पुत्र श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण हूँ। देवि! तुम्हारी अत्यन्त माधुर्य रस की निष्ठा से खिंच कर ही मैं तुम्हें दर्शन देने आया हूँ। यह मेरे साथ गांडीव-धारी अर्जुन है। यदि मेरे इतने समझाने पर भी आपको संतोष न हो, तो अर्जुन तो आपके सम्मुख ही बैठा है। इसकी तलवार से तो इसका सिर अभी उड़ा दीजिये। शेष दोनों शत्रुओं को भी मैं तुम्हारे सम्मुख बुला दूँगा।'

"इतना सुनते ही बुढ़िया उठी, उसने भगवान् की विधिवत् पूजा की, अश्रु-विन्दुओं से उसने भगवान् के चरण भिगो दिये, गद्-गद् कंठ से उनकी स्तुति की और प्रणाम करके बोली—'श्यामसुन्दर आज मेरी तपस्या पूरी हुई। आज मेरे सम्पूर्ण मनोरथ सफल हुए। यद्यपि मैंने इन तीनों के वध का विचार तो पक्का कर ही लिया था। फिर भी जब आप स्वयं ही मना कर रहे हैं, तो इन खड्गों को तो फेंक देती हूँ, इन्हें मारूँगी तो नहीं, किन्तु मेरा क्रोधअभी तक शान्त नहीं हुआ है, अतः मैं इन तीनों को शाप अवश्य दूँगी। यशोदा के भीतर स्नेह रहने पर भी बाहरी कोप से श्यामसुन्दर के शरीर को बाँधा तो सही। इसलिये मेरा शाप है, कि उन्हें श्यामसुन्दर के बाह्य शरीर का सदा वियोग सहना पड़ेगा। द्रौपदी ने अपने पतियों के बल के अभिमान में भर कर उन्हें चुपचाप सिर नीचा किये देख कर अपने सौन्दर्य की ठसक

में इस शरीर को लज्जा को ही लज्जा मानकर तुम्हें, ... था। अतः मेरा शाप है कि अन्त समय में उसके शरीर का संस्कार भी न होगा। वह बरफ में वैसे ही पड़ा रहेगा। जिन पतियों के ऊपर उसे इतना अभिमान है, अंत समय में वे उस की ओर आँख उठाकर भी न देखेंगे। जिस अर्जुन ने अपने त्रैलोक्य विजयी होने के अभिमान में—अपनी विजयजनित कीर्ति के लोभ से—जो आपसे निन्दित कार्य करवाया, उसे अंत में जंगली गोप भीलों से पराजित होना पड़ेगा। अंत समय में उसे सभी अस्त्र-शस्त्र भूल जायँगे।' इतना कह कर उस तापसी ने वहीं अपना तन त्याग दिया। हम दोनों ने गंगा किनारे ले जाकर उसका संस्कार किया।

"उस समय मेरा मन उदास हो रहा था, बुढ़िया की बातें मुझे व्यथित कर रही थीं। इसलिये भगवान् उन्हें भुलाने के लिये हँसते हुये बोले—'मालूम पड़ता है, इस बुढ़िया का मस्तिष्क विकृत हो उठा था। तभी तो ऐसी अंटसंट बे सिर-पैर की बातें बक रही थी। ऐसी अनेक बातें कह कर उस समय भगवान् ने मुझे भुला दिया। किन्तु राजन! आज उस तापसी का शाप प्रत्यक्ष सम्मुख आगया। सचमुच मुझे जंगली गोपों ने जीत लिया। मेरा तेज, बल, अस्त्र, पराक्रम कुछ भी काम नहीं आया। मैं देखता का देखता रह गया।'

"धर्मराज ने पूछा—"भैया, गोपों ने तुम्हें क्यों लूटा, कहाँ लूटा, किस प्रकार लूटा? इन सब बातों को सुनने की

मेरी इच्छा है। संक्षेप में इस दुःखद घटना को भी सुनाओ।"

धर्मराज के ऐसा पूछने पर अर्जुन जिस प्रकार इन्द्रप्रस्थ आते समय लुटे थे वह सब सुनाने लगे।

छप्पय

एक दिना वन माँहि तापसी तीनि खड्ग धरि।
बैरी मेरे तीन बतावे जब पूछी हरि॥
बाँधे माखन हेतु यशोदा ताकूँ मारूँ।
दीन्हों कृष्णा कष्ट पार्थ हित तीसरि धारूँ॥
तीन शाप क्रमशः दये, बहु समुझायो श्याम जब।
सुत वियोग, पति उपेक्षा, दस्यु पराजित करहिं तब॥

———

जंगली गोपों द्वारा पराजय

(६१)

तद् वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते,
सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति ।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं,
भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम् ॥१

(श्रीभा० १ स्क० १५ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

हरि आज्ञा सिर धारि नारि लैके मैं आयो ।
डाँकू मग में मिले मोइ मिलि के धमकायो ॥
अपनो परिचय दयो नामु अरजुन बतलायो ।
किन्तु न माने दुष्ट नारि लखि चित्त चलायो ॥
हरि की सोलह सहस्र प्रिय, पत्नी तिन ढाँढस दयो ।
तऊ लूटि लैं मग में, देखत को देखत रह्यो ॥

जैसी भवितव्यता होती है, उसके अनुसार ही घटनायें होने लगती हैं। मनुष्य बली या निर्बल नहीं है, काल ही उसे कभी बली बना देता है, कभी निर्बल कर देता है। सौन्दर्य

---

१ अर्जुन कहते हैं—राजन्! जिससे महाभारत समर विजय किया था वही मेरा यह गांडीव धनुष है, बाण भी वे ही अमोघ हैं, और वही

या असौन्दर्य्य वस्तुओं में नहीं, ये सब कालकृत गुण, दोष हैं।'

आज जो परम स्वरूपवान् है, कालान्तर में वही कुरूप हो जाता है। आज जिसे काला कलूटा कह कर लज्जित करते हैं, काल पाकर वह सुन्दर हो जाता है। अतः प्रधानता काल की ही है। यही सब सोचकर दुखित मन से अर्जुन कहने लगे— "राजन्! मेरा पुरुषार्थ तो कालस्वरूप कृष्ण के साथ चला गया, अब तो मैं बलहीन, पुरुषार्थ रहित और अस्त्र-शस्त्रों को भूला हुआ, सामान्य मनुष्य के समान हो गया हूँ, महाभारत का वह पराक्रम तो श्रीहरि के साथ चला गया, वे तो अब स्वप्न की सी बातें हो गईं। आपने गोपों द्वारा कैसे लूटा गया यह बात मुझसे पूछी है। यद्यपि यह कहने योग्य घटना नहीं है, फिर भी मैं आपकी आज्ञा से कहता हूँ। आप हृदय को कठोर बनाकर श्रवण करें।'

"श्री भगवान् स्वधाम पधार गये, यह बात मुझसे आकर भगवान् के सारथि दारुक ने कही। दारुक ने मुझे बताया कि अन्त समय में भगवान् मुझे आज्ञा दे गये हैं, कि आज के सातवें दिन समस्त द्वारकापुरी को समुद्र अपने भीतर लीन कर लेगा। एक मेरे घर को छोड़कर समस्त द्वारकावती नगरी

रथ तथा वे ही घोड़े हैं। उस रथ में बैठने वाला वही मैं रथी अर्जुन हूँ, जिसके सम्मुख समस्त भूपति नतमस्तक होते थे किन्तु केवल अपने सारथि श्यामसुन्दर के अभाव में, मैं उसी प्रकार क्षण भर में व्यर्थ बन गया जैसे राख में किया हुआ हवन व्यर्थ हो जाता है। अथवा वंचक स्वामी की की हुई सेवा या ऊसर में बोया हुआ बीज, जैसे निष्फल हो जाता है उसी प्रकार मैं उनके बिना व्यर्थ हो गया।'

जल में डूब जायगी, अतः अर्जुन समस्त स्त्रियों को, बाल-बच्चों तथा नौकर चाकरों को लेकर इन्द्रप्रस्थ चले जायँ। मैं उनके ही ऊपर समस्त यादव वंश के बाल-बच्चों और स्त्रियों का भार सौंपता हूँ। वे हमारे मोह में पड़ कर प्रमाद न करें।' इस प्रकार कह कर भगवान स्वधाम सिधार गये, अब आप जैसा उचित समझें करें।'

"भगवान की ऐसी आज्ञा सुनकर मुझे दुःख हुआ, भगवान से रहित होकर मैं एक क्षण भी जीवित रहना नहीं चाहता था, किन्तु उनकी आज्ञा को कैसे टाल सकता था। मैंने जैसी शास्त्र की विधि है, उसके अनुसार समस्त मरे हुए मुख्य-मुख्य लोगों के पितृ-कार्य, श्राद्ध, तर्पण आदि किये। अत्यन्त शीघ्र इन सब कार्यों से निवृत्त होकर मैं सब स्त्री बच्चों और सेवकों को साथ लेकर चला। चलते-चलते जब मैं पंचनद (पंजाब) के आस-पास के प्रदेश के समीप पहुँचा, वहाँ एक नदी के समीप मैंने समस्त श्रीकृष्ण की पत्नियों के सहित विश्राम किया। राजन्! वहाँ बहुत से जङ्गली जाति के आभीर दस्यु रहते हैं। मेरे साथ बहुत धन था, स्त्रियाँ थीं, उन दुष्टों ने बुरे भाव से हमें लूटने के लिए लाठियाँ लेकर हमारे ऊपर धावा बोल दिया। उनके इस दुस्साहस को देखकर मैं हँसा और हँस कर बोला—'अरे, दुष्टो! जैसे पतंगा जानबूझ कर अग्नि में कूदता है, उसी प्रकार तुम काल के गाल में क्यों कूद रहे हो? जैसे मछली वंशी में लगी आटे की गोली को—लोभमें—अपना आहार समझ कर निगल जाती है और अन्त में फँस कर अपने प्राणों को गँवाती है, उसी प्रकार धन के लोभ से तुम अपने प्राणों को क्यों गँवा रहे हो? जैसे अबोध बालक बिना समझे सर्प को पकड़ लेता है और उसके द्वारा मारा

जाता है, उसी प्रकार तुम मेरे बाणों द्वारा क्यों मरना चाहते हो ? अरे, तुम मुझे साधारण पथिक मत समझो। मेरा नाम सुनोगे तो तुम थर-थर काँपने लगोगे। मैं महाभारत समर का विजयी—द्रोण, भीष्म, कर्ण जैसे त्रैलोक्य विजयी वीरों को परास्त करने वाला—पांडुनन्दन अर्जुन हूँ। तुम्हारे लिए इतना ही पर्याप्त है। संसार में ऐसा कौन सा पुरुष होगा, जिसने जगत् प्रसिद्ध मेरे गांडीव धनुष का नाम न सुना हो। तुम्हें अपने प्राण प्यारे हों, तो इस बुरे विचार को छोड़ दो और तुरन्त ही यहाँ से भाग जाओ। मैं तुम्हे अकारण न मारूँगा।'

"राजन् ! मैंने इतना कहा, बार-बार अपना नाम सुनाया, तो भी वे दुष्ट नहीं भागे। उन्होंने हमे लूटने का अपना विचार दृढ़ रखा और वे सब बड़ी-बड़ी लाठियाँ लेकर हमारे ऊपर टूट पड़े। तब तो मुझे बड़ा क्रोध आया, मैंने अपने गांडीव धनुष पर डोरी चढ़ानी चाही, किन्तु आज मैं उस पर डोरी भी न चढ़ा सका। मैं मन्त्र मुग्ध की भाँति खड़ा का खड़ा ही रह गया। जब धनुष पर डोरी ही न चढ़ी, तब तो मैं अत्यन्त विस्मित हो गया। डाकुओं ने हमारे झुंड पर धावा बोल दिया था, वे सेवकों के देखते-देखते धनरत्न लूट रहे थे, तब तो मैंने दिव्य अस्त्रों की सहायता से उन्हें मारना चाहा, किन्तु बहुत याद करने पर भी वे मंत्र मुझे याद नहीं आये। मैं उनको समस्त छोड़ने तथा लौटाने की विधि भूल गया। डाकू मेरे देखते ही देखते भगवान् की पत्नियों को पकड़ कर ले जाने लगे। स्त्रियाँ डर कर इधर-उधर भाग रही थीं, बच्चे भय के कारण रो रहे थे, बूढ़े बड़े सेवक चारों ओर चिल्ला रहे थे, सर्वत्र हाहाकार मच रहा था। स्त्रियों के बाल खुल गये थे, डाकू उन्हें बलपूर्वक घसीटे

ले जा रहे थे। इस प्रकार बलात्कार करते देख कर बहुत सी स्त्रियाँ अपने आप ही उन दस्युओं के साथ होलीं।

"महाराज! मैं क्या बताऊँ? उस समय मेरे हृदय पर क्या

क्या बीत रही थी, मेरा हृदय जल रहा था, जैसे किसी सिंह के पंजे काट लिये हों, दाँत तोड़ दिये हों—वही दशा मेरी थी। मुझसे न धनुष पर डोरी चढ़ती थी, न दिव्य अस्त्रों के मंत्र ही याद आते थे। मैं बहुत घबड़ाया, साथ के सैनिकों की सहायता से जैसे तैसे सब ने मिल जुल कर धनुष पर किसी प्रकार डोरी चढ़ाई और मैं उन पर बाण छोड़ने लगा। किन्तु वे बाण व्यर्थ से प्रतीत होने लगे। उनका उन दस्युओं पर कोई प्रभाव ही नहीं होता था। थोड़ी देर तक बाण छोड़ने से ही मेरे समस्त बाण चुक गये।"

धर्मराज बोले—"अर्जुन! तुम्हारा तूणीर तो अक्षय था, उसके बाण तो कभी चुकते ही नहीं थे?"

रोते हुए अर्जुन बोले—"महाराज, वह अक्षयता तूणीर में नहीं थी, वह तो भगवान् वासुदेव में थी। उनके साथ मेरे बाणों की अक्षयता भी चली गई। नहीं तो जंगली लुटेरे डाकुओं की क्या सामर्थ्य थी, जो मेरे सामने ऐसा क्रूर कार्य कर सकते। जब मैंने देखा, मेरे बाण भी समाप्त हो गये और ये दस्यु सभी रोती हुई रानियों को पकड़े ले जा रहे हैं, तो मैं उन सब पर धनुष की नोक से प्रहार करने लगा, किन्तु जब बाण ही बेकाम हो गये, तो धनुष क्या करता? मेरा समस्त श्रम उसी प्रकार विफल हो गया, जैसे बुझी अग्नि में किया हुआ हवन विफल हो जाता है। ऊसर भूमि में अथवा वन्ध्या

में पड़ा हुआ बीज जैसे व्यर्थ हो जाता है, वैसे ही वहाँ मेरा पराक्रम विफल निर्वीर्य बन गया।

"राजन्! जैसे धान निकालने पर भूसी फिर वृक्ष नहीं पैदा कर सकती, जैसे पक्ष काटने पर पक्षी उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार वही रथ, वही घोड़े, वही धनुष, वे ही बाण रहते हुए भी मैं अपने सारथि श्यामसुन्दर के बिना निकम्मा बन गया। मेरे बल, पौरुष, साहस, उत्साह,शौर्य, तेज, प्रभाव सब के सब नष्ट हो गये। विजय मुझे छोड़ कर चली गई। उसने मेरा परित्याग कर दिया। न चाहने पर भी पराजय ने मेरे गले में माला डाल दी। बलपूर्वक उसने मुझे वरण कर लिया। मैं उस अभागिनी पराजय को लिये हुए, सर्वस्व गँवाये व्यापारी की भाँति रोता हुआ वहाँ से चल दिया। हाय! जो श्रीकृष्ण की रानी थीं, जिन्होंने भगवान वासुदेव की कृपा से द्वारावती में सुवर्ण के महलों में रहकर, रत्नों के सिंहासनों पर बैठ कर भाँति-भाँति के दिव्य भोग भोगे थे, जिन्हें प्रयत्न करने पर भी आकाशचारी जन्तु नहीं देख सकते थे, जिनके भाग्य पर स्वर्ग की देवाङ्गनायें, देवराज की पत्नियाँ भी ईर्ष्या करती थीं, आज उन्हें जङ्गली भील बलात्कार उठा ले गये! उन दुष्टों ने उन सुकुमारियों की न जाने क्या क्या दुर्दशा की होगी? संसार को अभय दान देने वाला मैं अभागा खड़ा-खड़ा इस दृश्य को अपनी आँखों से देखता रहा। उनके बहुत रोने और चिल्लाने पर भी उन की रक्षा न कर सका। काल की गति

कैसी क्रूर है? पता नहीं यह भाग्य कहाँ ले जाकर पटक दे, कब न जाने कौनसा दृश्य दिखा दे? कोई स्वप्न में भी यह अनुमान नहीं कर सकता था, कि चराचर विश्व के स्वामी भगवान् वासुदेव की परिणीता पत्नियों की—उनके न रहने पर—ऐसी दुर्दशा होगी। उनका भाग्य उन्हें ऐसी घटना दिखावेगा।

"इस प्रकार राजन्! मैं मन ही मन दुखी होता, वहाँ से चल दिया। जो स्त्रियाँ, बच्चे, सेवक शेष थे—उन सबको लेकर इन्द्रप्रस्थ में आया। इन्द्रप्रस्थ का वह समृद्धिशाली नगर मुझे सूना-सूना दिखाई देने लगा। नगर की श्री नष्ट हो गई थी, मैं यह निश्चय न कर सका, कि यह मेरी दृष्टि का भ्रम है या यथार्थ अब पहिले जैसी श्री, समृद्धि, कान्ति और प्रभा नहीं रही। उन सबों को वहीं छोड़ कर मैं अकेला ही आपके दर्शन के लिये यहाँ हस्तिनापुर में आया हूँ। राजन्! अब हमारा भी अन्त समय आ गया है, काल भगवान् हमें भी अपने में लीन करने के लिए उत्सुक हैं। अब हमें श्रीकृष्ण-हीन इस जगत् में एक क्षण भी न रहना चाहिये, अब हमें भी महाप्रस्थान की तैयारियाँ करनी चाहिए। महाराज! अब कलियुग आ गया, नहीं तो इतने बुद्धिमान यादव जिनके रक्षक, शिक्षक, प्रतिपालक श्रीकृष्ण हों, वे इस प्रकार परस्पर में लड़कर मर जाँय? इसे मैं श्रीकृष्ण की क्रीड़ा ही मानता हूँ उनको ऐसा ही अभीष्ट था, उनका अपना कोई भी सगा सम्बन्धी नहीं

सभी उनके लिये खिलौने हैं। दूध के कुल्हड़े हैं, दूध पी लिया और फट्ट से कुल्हड़ फोड़ दिया। महाराज! अब आप विलम्ब न करें।"

इतना कहते-कहते अर्जुन का फिर गला भर आया और वे आँसू बहाते हुए चुप हो गये।

छप्पय

जीत्यौ भारत युद्ध दिव्य रथ घोड़े वे ई।
धनुष वही गांडीव समर विजयी सर वे ई॥
विश्व विदित हौं रथी साज सामान वही हैं।
किन्तु नहीं हैं श्याम सारथी व्यर्थ सभी हैं॥
बुझी आग महँ हवन जिमि, ऊसर बोयो बीज ज्यों।
जिमि सेवा कंजूस की, व्यर्थ होइ है गयो त्यों॥

—:o:—

यदुवंश विनाश वार्ता

(६२)

राजंस्त्वयाभिपृष्टानां सुहृदां नः सुहृत्पुरे।
विप्रशापविमूढानां निघ्नतां मुष्टिभिर्मिथः ॥
वारुणीं मदिरां पीत्वा मदोन्मथितचेतसाम्।
अजानतामिवान्योन्यं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥१

(श्रीभा० १ स्क० १५ अ० २२, २३ श्लो०)

छप्पय

राजन् पथ की व्यथा बताई सबरी हमने।
पूछी जिनको कुशल नाम ले-ले के तुमने॥
वे सब तो बनि मूढ़ परस्पर लरे विचारे।
मद पीकें मदमत्त भये मरि स्वर्ग सिधारे॥
जैसे जल-चर दीर्घ लघु, खाँय बली निरबलिन कूँ।
त्यों यदुवंशी लरि मरे, मरवाये हरि सबनि कूँ॥

अत्यन्त दुःख की बात को सुनकर उसके सम्बन्ध में बार-बार पूछने की, उसके समस्त कारण जानने की जिज्ञासा स्वाभाविक होती है। जब अर्जुन अपनी पथ की व्यथा सुना

---

१ राजन्! द्वारावती के जिन बन्धु-बान्धवों की आपने कुशल-क्षेम पूछी है, वे तो विप्र शाप से विमूढ़ बनकर, वारुणी नामक मदिरा पी

चुके, तो धर्मराज ने फिर उनसे पूछा—"भैया, तुमने इतनी बातें तो सुनाईं, किन्तु यह नहीं बताया कि भगवान् स्वधाम कैसे पधारे ? वे अकेले ही गये या उनके साथ बलरामजी भी गये ? हमारे मामा वसुदेव जी का क्या हाल हुआ ? हमारी देवकी प्रभृति सातों मामियों की दशा बताओ तथा समस्त यादवों का भी कुशल समाचार सुनाओ।"

इतना सुनकर अर्जुन ढाह मारकर रोने लगे। वे रोते-रोते बोले—"राजन् ! अब इन सब बातों को कैसे कहूँ ? भगवान को तो यह लीला करनी थी, वो तो बढ़ते हुए यादवों के बल पराक्रम को नाश करना चाहते थे। महाभारत युद्ध में और सब राजाओं को तो परस्पर में लड़ा कर मरवा डाला, केवल यादव ही शेष रहे थे। भगवान् समझते थे, मेरे भुजबल से रक्षित इन यादवों को कोई अन्य मारने में समर्थ नहीं। अतः उनकी ही बुद्धि भ्रष्ट कर दी। वे सब भी आपस में ही लड़ कर मर गये।"

धर्मराज अत्यन्त आश्चर्य में पड़ कर बोले—"भैया, अर्जुन ! तुम कैसी बातें कह रहे हो ? यादवों में तो परस्पर बड़ा स्नेह था। वे तो सब श्रीकृष्ण की आज्ञा में ही सदैव रहते थे। वे आपस में क्यों लड़ पड़े ? यह तो तुम कुछ विचित्र सी बातें बता रहे हो।"

अर्जुन बोले—"राजन ! विचित्रता हम संसारी लोगों के

कर और उसके मद में मतवाले होकर, बिना पहिचाने की भाँति परस्पर में मुष्टियों और ऐरकाओं से एक दूसरे के ऊपर प्रहार करके, सब के सब मर गये। उनमें से अब केवल ४, ५ ही शेष रह गये हैं।

लिये होती है। भगवान के लिये न कोई विचित्र बात है, न कुछ असंभव कार्य है। जिस समय जिससे वे जो कराना चाहते हैं, उस समय वैसी ही बुद्धि बना देते हैं। यादव सभी ब्राह्मण भक्त थे, उनकी ऐसी बुद्धि कर दी कि यादवों के लड़कों ने अपने लड़कपन से ब्राह्मणों को कुपित कर दिया। उन्होंने क्रोध में भरकर यदुकुल के क्षय होने का शाप दे दिया। ब्राह्मणों ने क्या शाप दिया, भगवान् ने ही उनके मुख से ऐसा कहला दिया नहीं तो श्रीकृष्ण द्वारा रक्षित यादवों को शाप देने की शक्ति किस में है? विप्रशाप से शापित वे यादव श्रीकृष्ण को साथ लेकर प्रभास क्षेत्र में गए। भगवान् ही उन्हें हठ-पूर्वक ले गए थे। वहाँ उन सबों ने वरुणलोक से वरुण द्वारा भेजी गई वारुणी का पान किया और मदोन्मत्त हो गए। अब उन्हें अपने पराये का कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहा। आपस में एक दूसरे पर आक्षेप करने लगे, क्रोध में भर कर गाली गलौज होने लगी। बस, फिर क्या था? बात बढ़गई, एक दूसरे पर प्रहार आरंभ हुआ। सभी अपने सौहार्द्र और सम्बन्ध भूल कर एक दूसरे को मारने लगे। भाई-भाई पर प्रहार करता, चाचा भतीजे को मारता, पिता पुत्र का पेट फाड़ता, नाना धेवते को यमपुर पहुँचाता, मामा भानजे के प्राणों को हरता। साला बहनोई के रक्त का प्यासा बन गया। इस प्रकार एक दूसरे से परस्पर लड़ते-लड़ते सभी मर गये। भगवान् ने जब देखा, कि पृथ्वी का सम्पूर्ण भार उतर गया, तो उन्होंने भी योग समाधि द्वारा शरीर का परित्याग कर दिया। बलदेव जी पूर्व ही पधार चुके थे। इस प्रकार राजन्, भगवान् अपने समस्त कुल परिवार का संहार करके इस धराधाम से पधारे हैं। अब यादवों में केवल ४, ५ बच्चे ही रह गये हैं, नहीं तो सबके सब

स्वर्ग सिधार गए। श्री भगवान के वंश में तो केवल अनिरुद्ध का पुत्र वज्र ही बच गया है।"

धर्मराज बोले—"अर्जुन ! यह क्या हुआ ? ऐसी भी क्या मदान्धता, उन्होंने अपने सगे-सम्बन्धियों का कुछ भी ध्यान नहीं किया। भगवान ने बीच बिचाव नहीं किया ? वे तो सब निग्रह-अनुग्रह करने में समर्थ थे। उनके रहते हुए यादव कैसे परस्पर में लड़ मरे ?"

अर्जुन रोते-रोते बोले—"महाराज ! आप सब समझ बूझ कर ऐसी बात क्यों कर रहे हैं ? हम भी तो कौरव पांडव भाई-भाई ही थे। दोनों ओर हमारे भी तो सगे सम्बन्धी थे। भगवान श्यामसुन्दर हमारे भी बीच में तो थे, यदि वे न चाहते तो क्या कभी महाभारत युद्ध हो सकता था ? उनकी इच्छा के बिना १८ अक्षौहिणी सेना की तो कौन कहे एक चींटी भी नहीं मर सकती थी। उनको तो भूभारहरण करना था। समस्त बलवानों का संहार कराना था। स्वयं तो वे निर्लेप बने रहे, जैसे सूत्रधार स्वयं तो चुपचाप दर्शकों में बैठकर खेल देखता है और उसके सिखाये पढ़ाये प्रेरित किये पात्र भाँति-भाँति के अभिनय दिखाते हैं, क्रोध करते हैं, लड़ते हैं, गाते बजाते हैं। जब नाटक समाप्त हो जाता है तो सूत्रधार उठ कर अपने घर चला जाता है। यद्यपि सम्पूर्ण नाटक—आदि से अंत तक सभी उसकी प्रेरणा से ही हुआ। जिस पात्र को उसने जिस कार्य को करने के निमित्त नियुक्त किया, उसने उसी कार्य को सम्पन्न किया, फिर भी अज्ञ-दर्शक उसके मर्म न समझ सके, सब यही समझते थे, अमुक पात्र ने अत्यन्त ही करुणापूर्ण दृश्य दिखाया, अमुक ने अपना अभिनय

अत्यन्त ही उत्तमता के साथ किया। इसी प्रकार सबके हृदय में प्रेरणा करने वाले तो वे श्यामसुन्दर ही हैं। जैसे महाभारत में हम सगे सम्बन्धी लड़ मरे, वैसे ही हाल यादवों का भी हुआ भगवान् को कराना ही था। वैसे लोक दिखाने के निमित्त जब वे आपस में लड़ने लगे तो भगवान् बीच में पड़कर सब को कहते—'अरे भैया, यह तुम क्या कर रहे हो? लड़ते क्यों हो? आपस की लड़ाई भिड़ाई अच्छी नहीं होती। तीथ में गाली-गलौज मत करो।' भगवान् के ऐसा कहने पर और लड़ाई से निवारण कराने पर, वे मद से मत्त हुए महामूढ़ सबके सब मिलकर भगवान के ही ऊपर प्रहार करने को उद्यत हो गये। भगवान् ने उनकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी थी। विनाश काल में बुद्धि विपरीत हो ही जाती है। वे भगवान् की महिमा को भूल गये। तब तो भगवान ने भी स्वयं प्रहार करना आरम्भ कर दिया। जो दशा हमारी हुई, वही यादवों की भी हुई।"

धर्मराज बोले—"भैया, हम सब तो राज्य के पीछे लड़े थे और विशेष कर द्रौपदी के अपमान से हम अत्यन्त ही कुपित हो गये थे। लड़ाई के तीन ही कारण होते हैं—पैसा, पृथ्वी और प्रिया पत्नि। यादवों में तो मरने-कटने के इनमें से कोई कारण नहीं थे। वे सभी समृद्धिशाली थे, धनधान्य की उन्हें कमी नहीं थी। सभी महाराज उग्रसेन के शासन में रहते थे! सभी अपनी-अपनी पत्नियों में सन्तुष्ट थे, फिर ऐसा विग्रह क्यों हुआ जिसमें सब के सब मर गये?"

अर्जुन अत्यन्त दुःख के साथ बोले—"महाराज! ये सब तो बाह्य कारण हैं। ये सब तो निमित्त बन जाते हैं। काल

आने पर इनको ही निमित्त बनाकर लोग लड़ने लगते है
वास्तविक बात तो यह है कि काल रूप श्रीहरि ने सबका का
निश्चित कर दिया है! उस समय के आते ही जीवों को कि
के द्वारा मरवा देते हैं। सर्प, चोर, विष, अग्नि, शस्त्र ना
प्रकार के रोग, सभी जीवों को मारने में समर्थ होते हैं ज
उनका काल आ जाता है। भगवान् पहिले जीवों के द्वारा
जीवों को उत्पन्न कराते हैं। माता पिता के रज-वीर्य के संयो
से भगवान् ही जीवों को उत्पन्न कराते हैं फिर जीवों के द्वा
ही काल आने पर उनका विनाश भी करा देते हैं। सर्पिण
अपने पुत्रों को पैदा करके फिर उन्हें ही खा जाती है। वह
सबको नहीं खा जाती। उनमें से जिनका काल आ जाता
उन्हें ही खाती है, जिनका काल नहीं आता वे भग जाते है
जीवित रह जाते हैं। जल में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलिय
को निगल जाती हैं। बड़ी-बड़ी मछलियों को तिमि नाम क
महाकाय मछली खा जाती है। उस इतनी बड़ी तिमि नाम क
मछली को भी द्वीप के समान आकार वाले तिमिङ्गिल नाम य
मत्स्य निगल जाता है। छोटे-छोटे पतंगों को मेढक खा जाता है
मेढक को साँप निगल जाता है, साँप को मयूर खा जाता है
मयूर को लोग मार देते हैं। चूहों को बिल्ली खा जाती है
बिल्ली को कुत्ता मार डालता है। दुर्बल कुत्ते को बलवान् कुत्त
परास्त कर देता है। इसी प्रकार छोटे-बड़ों के द्वारा मा
जाते हैं, निर्बलों को बलवान् दबाकर मार डालते हैं। इसमें
किसको दोष दिया जाय? वे ही बनवारी बल देकर सबकी
शक्ति बढ़ाते हैं, एक दूसरे से उत्पन्न करा कर दूसरे से मरवा
देते हैं। राजन्! सब उन्हीं खिलाड़ी का खेल है। सब उन्हीं
का विनोद है। न यादवों का दोष, न कौरवों का। ये विचार

ाँच भौतिक पिंड प्रभु की प्रेरणा के बिना कुछ भी करने में समर्थ नहीं।

"राजन्! हम भगवान् की लीला को तब न समझ सके। हमें क्या पता था—अन्त में हमारी ऐसी दुर्दशा होगी। हमें श्रीकृष्ण की उस अनुपम कृपा का गर्व था। हमें उनका पुनीत प्रेम प्राप्त हुआ था। वे हमसे कैसी घुल-घुल कर बातें करते थे कितना स्नेह प्रदर्शित करते थे, किस प्रकार हमारे कार्यों में सबसे आगे रहते थे? मुझे तो उन्होंने अपना सम्पूर्ण स्नेह अर्पित किया था। मेरे ऊपर तो उन्होंने अपना स्नेह से भरा हृदय उदारता के साथ उड़ेल दिया था। जिस समय जैसा देश होता वैसे ही बातें करते। अन्तःपुर में स्त्रियों के सम्मुख ऐसा विनोद करते कि, मैं हँसते-हँसते लोट पोट हो जाता। रानियाँ खीज जातीं और भौंहें तान कर उनपर अपना प्रेम कोप प्रकट करतीं। जंगलों में जाते, तो वहाँ वैसी ही बातें करने लगते। युद्ध में मुझे वीर रस से भर देते। उन्होंने कभी असामयिक बातें नहीं कहीं। जिस बात के कहने का जब समय होता तभी कहते। वे कैसे देश काल के मर्म को जानने वाले थे। जिस काम के करने से हमारा प्रयोजन सिद्ध होता, उसी काय के लिए कहते और स्वयं भी उसे ही करते। वे बिना प्रयोजन की बातें कहना सीखे ही नहीं थे। व्यर्थ के कार्यों से उन्हें घृणा थी और मुझे भी सदा उन्हें न करने के लिए वर्जते रहते थे।

"जब मैं किसी कारण से दुखी हो जाता, तब कैसे मधुर स्वर में सान्त्वना देते। जब मैं किसी विषय में विमूढ़ बन जाता तो अनेक उत्तम युक्तियों के द्वारा उस मोह को छिन्न-भिन्न कर

भिन्न कर देते। वे कभी मुझे दुखी नहीं देख सकते थे। वे मेरा म्लान-मुख देखना नहीं चाहते थे। आज वे मुझे देखकर क्यों नहीं आते? क्यों नहीं आकर मुझे धैर्य बँधाते क्यों नहीं मेरे शोक को शान्त करते?"

इस प्रकार श्रीकृष्ण विरह से विरहित अर्जुन श्रीकृष्ण के चरणों का ध्यान करते-करते उन्हीं के ध्यान तल्लीन हो गये। उस तल्लीनता के कारण अत्यन्त बढ़े हुए ने अर्जुन के अखिल अशुभों का नाश कर दिया, उनकी बु निर्मल और शान्त हो गई। जब अत्यन्त वेगवती भक्ति अर्जुन के काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि मलों का नाश दिया, तब भगवान् ने जो गीता-ज्ञान महाभारत युद्ध के दिया था और वह अर्जुन को कालकर्मजन्य तमोगुण कारण विस्मृत हो गया था, वह फिर याद आ गया। विरह जनित अश्रुओं के निकलने से निर्मल हुआ अन्तःकरण में वह दिव्यज्ञान, पुनः उसी प्रकार स्पष्ट प्रकट हो गया, जिस प्रकार वर्षा के कारण गिरे हुए घर में रखी हुई स्वर्णराशि, पुनः खोदने से प्रकट हो जाती है

इस प्रकार अज्ञान के नाश होने से—तमोगुण के विलीन होने पर—उन्हें ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो गयी। वे सर्वत्र अपने श्यामसुन्दर को ही देखने लगे। जब उन्हें सर्वत्र ही अपने इष्ट दिखाई देने लगे और अपने में भी उन्हीं का अनुभव करने लगे, तब तो उनका समस्त शोक मोह दूर हो गया! अब माया का आवरण हट जाने से उनका भेद भ्रम जाता रहा। वे अपने को गुणातीत अनुभव करने लगे। अब वे भूल गये, कि

मैं गांडीवधारी अर्जुन हूँ। लिङ्ग, कारण और स्थूल तीनों शरीरों से अपने को पृथक् समझने लगे।

इस प्रकार जब धर्मराज ने यदुकुल के संहार की बात सुनी तो वे भी अब आगे का अपना कर्तव्य निश्चित करने लगे।

छप्पय

कैसी क्रीड़ा करें कौतुकी श्याम खिलारी।
विषयवासना बद्ध न समुझति बुद्धि विचारी॥
जीव जीव सों करें जीवतें पुनि मरवावें।
करहिं परस्पर प्यार शत्रुता पुनि करवावें॥
महाराज! सब काज तजि, चलो विजन वन तनु तजो।
राज पाट धनधाम गृह, छोरि मोरि मुख हरि भजो॥

भगवत् वियोग में कुन्ती का देह त्याग

[६३]

पृथाप्यनुश्रुत्य धनञ्जयोदितम्,
नाशं यदूनां भगवद्गतिं च ताम् ।
एकान्तभक्त्या भगवत्यधोक्षजे,
निवेशितात्मोपरराम संसृतेः ॥१

(श्रीभा० १ स्क० १५ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

भयो शोर सब ओर शोक घर-घर में छायो ।
कुन्ती माता सुनी द्वारका ते सुत आयो ॥
स्वामी सरभ्रम भगे बाहिरी प्रान हमारे ।
वे हरि हमकूँ त्यागि हाय ! बैकुठ पधारे ॥
नाश भयो यदुवंश को, लरि भिरि के सब मरि गये ।
तनु त्याग्यो तत्काल माँ, शोकाकुल सुत सब भये ॥

सुख की घड़ियाँ बीतती हुई प्रतीत नहीं होतीं, सुख में समय छोटा हो जाता है, किन्तु दुःख की घड़ियाँ तो बिताने पर भी नहीं बीततीं। वे पहाड़ से भी अधिक अगम्य हो जाती हैं, हाय

---

१ अर्जुन के मुख से जब माता कुन्ती ने यदुकुल विनाश और भगवान् के स्वधाम पधारने की बात सुनी, तो अधोक्षज भगवान् वासु-

क्षण कल्प के समान प्रतीत होने लगता है। रात्रि, प्रलय-रात्रि से भी बड़ी हो जाती है, किन्तु वही समय भगवत् चर्चा और श्रीकृष्ण नामगुण कीर्तन में बिताया जाय तो, दुःख भी सुख में परिणत हो जाता है। शोक भी आनन्द के रूप में बदल जाता है और समय सुखपूर्वक व्यतीत हो जाता है।

अर्जुन द्वारका से सीधे इन्द्रप्रस्थ आ रहे थे। महाराज युधिष्ठिर की पहिली राजधानी इन्द्रप्रस्थ ही थी, किन्तु जब महाभारत युद्ध में सभी कौरव मारे गये, तो उन्होंने अपना पैतृक-सिंहासन हस्तिनापुर में ही रखा। कभी वे इन्द्रप्रस्थ में रहते थे और कभी हस्तिनापुर में। अर्जुन पहिले सब को लेकर इन्द्रप्रस्थ ही आये। वहाँ आकर जब उन्होंने देखा कि उनके भाई माता आदि हस्तिनापुर में हैं, तो वे द्वारका से जो साथ आये थे, उन सब को वहीं छोड़कर अकेले ही भगवान् के पौत्र वज्र को साथ लिये हुए हस्तिनापुर में आये। अर्जुन बड़े दुखी थे, गोपों के द्वारा पराजित हो जाने से उन्हें बड़ी मानसिक ग्लानि हो रही थी। वे अपना मुख भी किसी को दिखाना नहीं चाहते थे। किसी के सामने होने में भी उन्हें लज्जा प्रतीत होती थी। धर्मराज के सम्मुख तो जाना ही पड़ेगा, उन्हें तो यह सब समाचार सुनाने ही हैं। अतः वे नगर के समीप एक स्थान में छिपे रहे। जब अँधेरा हो गया तो अपने शरीर को छिपा कर चले। वज्र को उन्होंने एक सुरक्षित स्थान में सुख से ठहरा दिया। वे हत्यारे की तरह अपने मुँह को ढाँक

देव की अनन्य भक्तिद्वारा अपना चित्त स्थिर करके उन्होंने संसार से उपरामता ग्रहण कर ली अर्थात उन्होंने अपना पाञ्चभौतिक शरीर त्याग दिया।

कर रोते-रोते युधिष्ठिर के समीप जाने लगे। प्रहरी ने भीतर जाने से रोका, किन्तु उन्होंने धीरे से उनके कान में दिया, "किसी से कहना मत।" वह तो अपने स्वामी को दशा में देखकर डर गया और पैरों में पड़ गया। अर्जुन सभा में चले गये। उस समय धर्मराज अपने प्रधान-प्र मंत्रियों, भाइयों और अन्तरङ्ग स्नेहियों के साथ बैठे भगवान् ही सम्बन्ध में चिन्ता कर रहे थे। उसी समय ऐसे विचित्र वे में अर्जुन को अपने सम्मुख देखकर उन्होंने एक साथ ही अनेक प्रश्न कर डाले। अर्जुन ने उनमें से एक का भी उत्तर नहीं दिया, वे रोते ही रहे।

जब उन्होंने यदुकुल संहार और भगवान्के स्वधाम पधारने की सभी बातें सुनाईं, तब तो सब के सब शोक-सागर में मग्न हो गये। एक बूढ़े, बुद्धिमान् मंत्री ने, रात्रि में यह समाचार अन्तःपुर में या नगर में न फैलने पावे, इसलिये सभा के बाहर के सभी द्वार इस अभिप्राय से बन्द कर दिए, कि न तो कोई बाहर का आदमी भीतर आने पावे और न भीतर का बाहर जाने पावे। धर्मराज तो बेसुधि बन गये थे। उन्हें अपने शरीर का भी ज्ञान नहीं रहा। वे प्राणों के धारण करने में भी समर्थ नहीं थे, किन्तु उनके लिए प्राण धारण करने का एक ही आधार था—कृष्ण कथा। कृष्ण कथा सुनते-सुनते वे भाव में श्रीकृष्ण संयोगसुख का अनुभव करने लगे और वियोग-जन्य दुःख को भूल गये। वे अर्जुन के मुख से कृष्ण कथा सुनते-सुनते ऐसे तल्लीन हो गये, कि वह सम्पूर्ण रात्रि एक क्षण के समान व्यतीत हो गई।

इस प्रकार जब अर्जुन ने सभी यादवों के संहार का समाचार सुनाया, तो धर्मराज बड़े दुखी हुए। इस पृथ्वी को भगवान के पादपद्मों से शून्य समझकर अब वे उस पर रहना

नहीं चाहते थे। उन्होंने अपने आत्मज्ञान से बढ़े हुए शोक को रोका। चित्त को स्थिर किया और फिर सभी भाइयों से सम्मति करने लगे। उन्होंने भाइयों से कहा—"देखो भगवान् के पादपद्मों से रहित इस पृथ्वी पर अब धर्म नहीं रह जायगा। सभी सद्गुण तो भगवान् के साथ ही उनके धाम को सिधार गये। अब तो सर्वत्र इस धराधाम पर अधर्म का ही साम्राज्य छा जायगा। सर्वत्र कलह का ही बोलबाला होगा। अतः हम सब को अब क्या करना चाहिये? मेरी तो अब एक क्षण भी जीने की इच्छा नहीं होती। मैं तो उत्तराखण्ड में जाकर इस शरीर का परित्याग करना चाहता हूँ। बोलो, आप सब भाइयों की क्या सम्मति है।"

रोते-रोते भीमसेन ने कहा—राजन्! हमारी पृथक् सत्ता थोड़े ही है जैसे एक शरीर में हाथ, पैर, नाक, कान, मुँह आदि अंग होते हैं, वैसे ही शरीरी रूप आपके हम सब भाई तो अंग हैं। जहाँ शरीरी जाता है, शरीर तो उसके साथ स्वतः ही चलता है। अतः प्रभो! हमसे पूछने की क्या आवश्यकता है। जो आपकी गति वह हमारी गति। हमने तो अपनी इन्द्रियाँ अन्तःकरण सब आपमें मिला दिये हैं। हमने कभी आपके किसी काम में हस्तक्षेप नहीं किया। हमें आपने जुये के दाँव पर लगा दिया, हम दुर्योधन के दास बन गए, उसके अधीन हो गए। महाराज! हमारी पृथक् सत्ता होती, तो क्या दुर्योधन इतने दिन जीवित रह सकता था। जिन हाथों से द्रौपदी के काले-काले घुँघराले बाल सब के सामने खींचे थे, यदि हम अलग कुछ करने में समर्थ होते, तो क्या दुष्ट दुःशासन के वे हाथ वहाँ शरीर में लगे रहते? महाराज! हम तो आपके

अधीन हैं। जो निश्चय आप करेंगे, वही हम सबके लिये मंगल-प्रद होगा।"

धर्मराज गम्भीर स्वर में बोले—"हाँ, ठीक है। अब भैया, सब को छोड़ो। देखो, परीक्षित् अब समर्थ हो गया है, उसका आज ही राज्याभिषेक हो जाना चाहिए। वज्र को भी इन्द्रप्रस्थ में समस्त माथुर मण्डल के सिंहासन पर यहीं अभिषिक्त कर दो।" फिर सहदेव की ओर देखकर कहने लगे—"सहदेव भैया! जाओ, तुम अभी सब तैयारियाँ करो।"

हाथ जोड़ कर सहदेव ने पूछा—"महाराज! क्या तैयारियाँ करूँ?"

सहदेव को इस प्रकार हक्का-बक्का होकर प्रश्न करते हुए देख कर, अधिकार के स्वर में धर्मराज उन्हें समझाते हुए कहने लगे—"अरे, सहदेव! तुम भैया, इतने बुद्धिमान ज्ञानी ध्यानी पंडित होकर कैसी मोह की सी बातें कर रहे हो? भैया, जो होना था सो हो गया। भगवान् के विधान को कोई भी टालने में समर्थ नहीं अतः अब तुम धैर्य्य धारण करो। देखो, ये हमारे पूज्य पुरोहित धौम्य हैं, कृपाचार्य हैं, करने कराने वाले तो ये ही सब हैं। आज तो साधारण रीति से नियमानुसार परीक्षित् को राज्यगद्दी पर बैठा दो। उसका विशेष-उत्सव आदि ये सब करते रहेंगे। उसमें राज्य-काज करने की तो बुद्धि ही अभी क्या है। राज्य शासन तो सब ये हमारे कुल के माननीय विप्रवृन्द ही करेंगे, केवल इनके आज्ञानुसार नाम उसका होगा। इनसे पूछकर जो ये कहें, जो-जो सामग्री सम्भव हो, उसी को जुटा कर आज ही मेरा यह छत्र परीक्षित् के सिर पर रखवा दो। उसे छत्रपति बनाकर मैं

अपने कर्तव्य से मुक्त हो जाऊँगा। भरतवंश की परम्परा अक्षुण्ण बनी रहेगी, तब फिर हम सब महाप्रस्थान के पथ में अग्रसर होंगे।"

सहदेव ने हाथ जोड़ कर कहा—"जैसी आज्ञा!" इतना कहकर सहदेव उठे, तब अर्जुन ने कहा—"महाराज! मैं माता जी के भी दर्शन कर आऊँ, अन्तःपुर में मेरे आने का समाचार तो सम्भव है, उन्हें मिल ही गया होगा, वे चिन्तित हो रही होंगी कि मैं अभी तक उनकी सेवा में उपस्थित क्यों नहीं हुआ?"

धर्मराज ने कहा—"हाँ, ठीक है, तुम अन्तःपुर में जाओ। भीम वहाँ जाकर सेनाओं को तैयार करावें। नकुल से कहो पुरवासियों से परीक्षित् के राज्याभिषेक की तैयारियाँ करावें।" इस प्रकार सबको आज्ञा देकर धर्मराज नित्य कर्मों से निवृत्त होने के लिये उठे। उनके उठते ही सभी मंत्री, पुरोहित और राज्याधिकारी उठकर खड़े हो गये।

अर्जुन प्रणाम करके अन्तःपुर की ओर अकेले ही चले। हाथ जोड़े हुए नौकर जो उनके पीछे-पीछे आ रहे थे, उनको उन्होंने रोक दिया, "मेरे पीछे किसी के आने का काम नहीं है। तुम सब लोग अपना काम देखो। मैं अन्तःपुर का मार्ग जानता हूँ।"

आज अपने स्वामी का ऐसा रूखा उत्तर सुनकर सभी सेवक उदास हुए और वे दुखित मन से लौट गये।

महारानी कुन्ती ने एक बूढ़ी दासी से कुछ संदिग्ध सा समाचार सुना तो था, कि सम्भव है अर्जुन द्वारका से लौट आये हैं। जब रात्रि में बहुत देर तक प्रतीक्षा करने पर भी अर्जुन

नहीं आये, तो उन्होंने उस दासी से बार-बार पूछना प्रारंभ किया—"क्योंरी, तू तो कहती थी—अर्जुन आया है। आता तो मेरे पास सबसे पहिले प्रणाम करने आता। तू जा, देख तो सही, सभा में तो नहीं बैठा है ?" बिचारी दासी गई, लौट कर उसने समाचार दिया—'महारानी जी, आज सभा का तो द्वार बन्द है। प्रहरी ने मुझे जाने ही नहीं दिया। महाराज धर्मराज भी आज अपने महलों में नहीं पधारे। कोई विशेष राज काज आ गया होगा। मुझे सम्भव है भ्रम ही हुआ हो, मँझले महाराज सम्भव है द्वारका से अभी न लौटे हों।"

महारानी कुन्ती को इन संदिग्ध बातों से बड़ी विकलता हो गई। चारों में से कोई भी मेरे पास प्रणाम करने नहीं आया। किसी ने आज ब्यालू भी नहीं पाई। सभा का द्वार बन्द क्यों है, ऐसा कौनसा राज-काज आ गया ? दासी कहती है—मैंने मँझले महाराज को भी जाते देखा है। तो क्या अर्जुन द्वारका से लौट आया ? द्वारका में कोई अशुभ घटना तो नहीं घट गई, कहीं श्यामसुन्दर का कुछ अनिष्ट तो नहीं हुआ ? यही सब सोचते-सोचते माता अधीर हो गईं। उन्हें रात्रि में नींद नहीं आई। वे सम्पूर्ण रात्रि भाँति-भाँति के तर्क वितर्क करती हुई घड़ियाँ गिनती रहीं। प्रातः काल जब सूत मागध वन्दियों ने प्रातःकालीन स्तुतियाँ आरंभ की, तो उनका हृदय फटने लगा। न जाने क्यों रह-रह कर उन्हें आज समस्त यदुवंशियों के अनिष्ट की ही शंका हो रही थी। प्रेम में पग-पग पर अनिष्ट की ही आशंका होती है। प्रेमी हृदय आशंका से भरा रहता है।

अरुणोदय में जब दासियों ने समाचार दिया, कि मँझले महाराज आ रहे हैं, तब चिरकाल के पुत्र वियोग के पश्चात्

तो मिलन का अनुपम आह्लाद होना चाहिए, वह माता को नहीं हुआ। उन्हें बार-बार द्वारका के समाचारों के सम्बन्ध में भाँति-भाँति की शंकायें हो रही थीं। अर्जुन ने आकर अपनी बूढ़ी माँ के पैर पकड़े। उन्होंने माँ के अरुण चरणों में सिर रख कर उन्हें प्रणाम किया। माँ ने अपने पुत्र को प्रणाम करते देखकर उसे हृदय से लगाया। सिर पर हाथ फेरा और भाँति-भाँति के आशीर्वाद दिये। उन्होंने विना कुशल प्रश्न पूछे ही कहना आरम्भ कर दिया—"बेटा, मैंने सुना था, तुम कल ही आ गये थे? क्या यह बात ठीक है? यदि ठीक है, तो तुम कल मेरे पास क्यों नहीं आये? तुम किवाड़ बन्द करके अपने भाइयों से क्या सम्मति कर रहे थे? पहिले तुम जब भी कहीं से आते सबसे पहिले मुझे प्रणाम करने आया करते थे, अब के द्वारका से आने पर तुमने विपरीत आचरण क्यों किया? इतने दिनों बाद भी मुझे देख कर तुम प्रसन्न क्यों नहीं हो रहे हो? तुम्हारा मुख म्लान क्यों है? तुम्हारी कान्ति क्षीण क्यों हो रही है? द्वारका में तो सब कुशल है? मेरे भाई वसुदेव, उनके सब पुत्र-पौत्र अच्छी तरह तो हैं? सब की बातें तो पीछे बताना, मुझे तो मेरे हृदय धन, जीवन-सर्वस्व, श्री श्यामसुन्दर के समाचार सुना दो। उनकी कुशल बता दो। उनकी कुशल से ही संसार की कुशल है।"

एक साथ माता के इतने प्रश्न सुनकर अर्जुन रो पड़े। रोते-रोते उन्होंने कहा—"माँ! कुशल तो श्यामसुन्दर के साथ चली गई। समस्त यदुवंशी आपस में ही लड़कर स्वर्ग सिधार गये। बलराम जी के सहित भगवान् वासुदेव भी निज धाम

पधार गये। अब तुम्हारे वंश में अनिरुद्ध का पुत्र बज्र। शेष है।"

संभ्रम के साथ माता ने पूछा—"क्या श्यामसुन्दर इ धराधाम का परित्याग कर गये?"

रोते-रोते अर्जुन ने कहा—"हाँ, माँ! यह पृथ्वी विधव बन गई, हम अनाथ हो गये। श्यामसुन्दर हमें छोड़ क चले गये।"

बस, इतना सुनना था कि श्रीकृष्ण को ही सर्वस्व समझ वाली माँ कुन्ती का हृदय फट गया। आँखें पथरा गई औ उसी क्षण उनके शरीर से प्राण निकल कर श्यामसुन्दर क खोजने चले गये। अब वहाँ माता कुन्ती नहीं थीं, उन्होंने त श्यामसुन्दर के पथ का अनुगमन किया। वहाँ रह गया था केवल उनका निर्जीव शरीर। महारानी की ऐसी दशा देखक दासियाँ दौड़ पड़ीं। क्षण भर मे समस्त अन्तःपुर में यह समा चार बिजली की भाँति फैल गया अन्तःपुर की रानियाँ आ-आ कर छातियाँ पीटने लगीं, भाँति-भाँति से विलाप कर लगीं। तुरन्त यह समाचार धर्मराज को दिया गया। सुनते ह वे अपनी जननी के शव के समीप आये। वे तो भगवान् वे स्वधाम पधारने की बात सुनते ही सभी संसारी सम्बन्धों स उदासीन हो गये थे, अतः वे रोये नहीं, उन्होंने शोक भी प्रकट नहीं किया। किन्तु उन्हें अपनी माँ की ऐसी अद्भुत मृत्यु पर ईर्ष्या अवश्य हुई। हा! हमारी माँ का ही प्रभु प्रेम धन्य है, जो उनके स्वधाम पधारने के समाचार को सुनते ही स्वर्ग-वासिनी बन गईं। भगवान् से रहित पृथ्वी पर उन्होंने एक क्षण भी जीना उचित नहीं समझा। एक हम भी भगवान् के भक्त

कहलाते हैं जो इस समाचार को सुन कर भी जीवित हैं। संसारी काज कर रहे हैं, अवश्य ही हमारा हृदय वज्र का बना हुआ है, जो भगवान् के वियोग को श्रवण करके भी नहीं फटता।

रोती हुई स्त्रियों को रोक कर धर्मराज बोले—"तुम लोग माताजी के लिये रोओ मत। उनकी मृत्यु तो परमप्रशंसनीय है।" तब उन्होंने अर्जुन से कहा—"भैया अर्जुन! अब विलम्ब करने का काम नहीं है। सब लोगों को बुलाओ। माँ का अभी दाह संस्कार करो, आज ही परीक्षित् का राज्याभिषेक कर दो। हम आज ही यहाँ से चल देंगे। अब हमें एक-एक क्षण यहाँ भारी हो रहा है।"

रोते-रोते अर्जुन ने धर्मराज की आज्ञा का पालन किया। वे उठकर स्वयं सब लोगों को बुलाने गये। सहदेव, नकुल, भीम, सभी परीक्षित् के राज्याभिषेक की तैयारियाँ कर रहे थे।

हाय! यह राज्य-काज कितना कठोर है? इन राजाओं के महलों में कैसी विपरीत घटनायें एक साथ होती रहती हैं। एक ओर बाप के मरने का शोक है, अभी उसका शव उठा नहीं, कि दूसरी ओर राज गद्दी की तैयारियाँ होने लगती हैं। कोई रानी मर रही है, किसी के लड़का हो रहा। धर्मराज के ही महल में आज एक ही दिन में कितनी विपरीत घटनायें घटित हो रही हैं। एक ओर बूढ़ी माँ घर में मरी पड़ी है, दूसरी ओर पौत्र को राजसिंहासन पर बिठाया जा रहा है, तीसरी ओर चक्रवर्ती महाराज अपना सर्वस्व त्याग कर भाइयों के सहित बन को जा रहे हैं। ये सब घटनायें धर्मराज के ही अनुकूल थीं, उन्होंने धैर्य धारण करके इन सब का निर्वाह

किया। उन्होंने ही बिना व्यग्रता प्रकट किये सब कामों को यथावत् निभाया।

सर्व प्रथम उन्होंने अपनी माता का गङ्गा किनारे जाकर विधिवत् दाह-संस्कार किया। रोते-रोते सब भाइयों ने उन्हें जलाञ्जलि दी। फिर आकर वे परीक्षित् के अभिषेक की तैयारियाँ करने में लग गये।

छप्पय

स्वर्ग सिधारीं मातु धर्मसुत नहिं घबराये।
धन्य-धन्य मम मातु विरह हरि प्रान गँवाये॥
अश अभागे हमीं बज्र सम हिये हमारे।
सुनत श्याम संवाद प्रान हरि सँग न सिधारे॥
जलज मीन फणि-वारि मणि, बिनु न रहें जीवित अधिक।
मातु निबाह्यो प्रेम भल, हम जीवित अस नेह धिक॥

महाराज परीक्षित् का राज्याभिषेक

(६४)

स्वराट् पौत्रं विनयिनमात्मनः सुसमं गुणैः ।
तोयनीव्याः पतिं भूमेरभ्यषिञ्चद् गजाह्वये ॥
मथुरायां तथा वज्रं शूरसेनपतिं ततः ।[1]

(श्रीभा० १ स्क० १५ अ० ३८ श्लो०)

छप्पय

धर्म रावने लख्यो, राष्ट्र महँ दम्भ कपट अति ।
कलि कूँ आयो जानि, कीन्ह परलोक गमन मति ॥
वन पर्वत नद नदी, ससागर सगरी पृथ्वी—
कैं कीन्हें सम्राट परीक्षित परम यशस्वी ॥
हस्तिनापुर महँ परीक्षित, बज्र ब्रजेन्द्र बनाइकैं ।
गुणी पौत्र लखि मुकुट निज, सिर धरि दयो सिहाइकैं ॥

त्याग और ग्रहण, श्रेष्ठ और हेय बुद्धि से किया जाता है। जिसे हम अनुकूल समझते हैं, उसको ग्रहण करते हैं, जिसे प्रतिकूल समझते हैं उसका परित्याग करते हैं, किन्तु

---

[1] चक्रवर्ती महाराज युधिष्ठिर ने अपने ही समान गुण वाले विनयी, अपने पौत्र परीक्षित को समुद्र पर्यन्त समस्त पृथ्वी के राज्य-

जहाँ वह प्रतिकूल बुद्धि है ही नहीं, जहाँ या तो सभी वस्तुएँ त्याज्य ही हैं या सभी ग्रहणीय हैं, वहाँ न अनुकूल है न प्रतिकूलता, न ग्रहण है न त्याग, न हर्ष न शोक। भगवान् जो कच्छ, मत्स्य, वाराह, नृसिंह आदि रूप धारण करते हैं, उन शरीरों में उनका न मोह होता है न आसक्ति। केवल भूभार उतारने और अपने भक्तों को सुख देने के निमित्त वे इन शरीरों में प्रकट हुए से दिखाई देते हैं। जहाँ उस शरीर से होने वाला कार्य सिद्ध हुआ वहाँ से उसी प्रकार त्याग देते हैं जैसे पूड़ी साग खाकर दोनें को फेंक देते हैं, अथवा दूध पीकर कुलड़े को फेंक देते हैं, या पान खाने पर उसमें लगे पत्ते को फेंक देते हैं, इलायची खाने पर जैसे उसके छिलके को थूक देते हैं, गन्नें का रस चूस लेने पर उसके फुक्स को, बेर और आम खा लेने पर उनकी गुठलियों को और यज्ञ कर लेने पर जैसे कुशाओं को, बिना कष्ट के, बिना मोह ममता के हम परित्याग कर देते हैं, उसी प्रकार भगवान भी अवतार कार्य हो जाने पर अपने तन को त्याग कर स्वधाम पधार जाते हैं। जैसे पथ में चलते-चलते पैर में कांटा लग गया, एक दूसरा कांटा तोड़ कर यत्न से उसे निकालते हैं, जब पैर में का कांटा निकल आता है, तो फिर दोनों ही व्यर्थ हो जाते हैं, दोनों को ही फेंक देते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी के कंटक रूप जो क्षत्रिय उत्पन्न हो गये थे, उन्हें भगवान् ने क्षत्रिय रूप रखकर ही मारा और मरवाया। जब मरकर सब समाप्त हो गये, तो भगवान् ने अपने मानुषी श्री विग्रह को भी अन्तर्हित कर लिया।

पर हस्तिनापुर में अभिषिक्त किया तथा भगवान् के पौत्र अनिरुद्धजी के पुत्र वज्र को शूरसेन देश के राज्य पर मथुरापुरी में अभिषिक्त किया।

महाभारत के पूर्व ही कलियुग का आगमन तो हो चुका था, किन्तु भगवान् के पृथ्वी पर रहते, उसका हाथ-पैर फैलाने का साहस नहीं हुआ। जैसे कोई खिलाड़ी बच्चा नियत समय पर दूसरे बच्चों को बुलाकर मनमाना खेल-खेलता है। एक दिन नियत समय पर निश्चित स्थान पर आया, वहाँ क्या देखता है, कि उसके वृद्ध गुरु बैठे हैं। बच्चा आकर बहुत सीधे-सादे सौम्य शिशु की भाँति चुपचाप आकर बैठ जाता है, मानों बहुत भोला-भाला है। कुछ भी लड़ाई-झगड़ा उपद्रव नहीं जानता। जब गुरुजी अपने साथियों के सहित वहाँ से उठ कर चले जाते हैं, तब देखिये उस खिलाड़ी के ठाठ। कूदेगा, उछलेगा, एक लड़के से दूसरे लड़के को भिड़ा देगा, रुला देगा, मारेगा, पीटेगा, लड़ेगा, झगड़ेगा, हू-हू हा-हा करके सबको सिर पर उठा लेगा। यही दशा कलियुग की थी। वह नियत समय पर अपने परिवार अधर्म, मृषा, दम्भ, माया, लोभ, शठता, क्रोध, हिंसा, भय, मृत्यु, यातना, निरय आदि को साथ लेकर पृथ्वी पर बहुत दिनों से आ गया था, किन्तु वहाँ अपने बाबा के भी बाबा भगवान् को देख कर भीगी बिल्ली की भाँति सिकुड़ कर बैठा रहा। जब श्री भगवान् इस अवनि से उठकर अपने वैकुंठधाम को पधार गये और उनके साथ ही साथ सत्य, शौच, दया, क्षमा, त्याग, सन्तोष, कोमलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्र विचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शूरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कुशलता, कान्ति, धैर्य, मृदुता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, मानसिक बल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, मान, निरहंकारिता आदि गुण भी

जब इन सब गुणों के सहित भगवान् धराधाम का परित्याग कर गये, तब तो कलि को खुलकर खेलने का अवसर प्राप्त हो गया। उसने धर्मराज का भी शील-संकोच नहीं किया। उद्दण्ड लड़के को देखकर जिस तरह समझदार मनुष्य उसकी उपेक्षा कर देते हैं। उसके सामनेसे हट जाते हैं। उसी प्रकार धर्मराज ने जब देखा कि यह दुष्ट कलियुग तो मेरे सामने ही अपनी कुत्सित क्रीड़ायें करने लगा है, तो उन्होंने अब पृथ्वी पर रहना उचित नहीं समझा। उसी दिन महाप्रस्थान के लिये निश्चय कर लिया।

इधर माता के संस्कार की तैयारियाँ हो रही हैं, उधर परीक्षित् को राज्याभिषेक किया जा रहा है। धर्मराज ने अत्यन्त शीघ्रता से साधारण विधि से ही ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर महाराज परीक्षित् को भरतवंश के यशस्वी सिंहासन पर सम्राट-पद के ऊपर अभिषिक्त किया। वे जानते थे, 'परीक्षित् धर्मात्मा है, इसमें मुझसे किसी प्रकार कम योग्यता नहीं है, प्रजा का इसके ऊपर प्रेम है, मंत्री, पुरोहित, ब्राह्मण इसके गुणों से सन्तुष्ट हैं। अतः उन्होंने बालक होने पर भी उन्हें सिंहासन पर बिठाया और अपने हाथ से अपना स्वर्ण मंडित दिव्य मुकुट उनके सिर पर रखने लगे, तब परीक्षित् ने रोते-रोते धर्मराज के पैर पकड़ कर कहना आरम्भ किया—"प्रभो! आप हमें छोड़कर न जायँ। महाराज! मैं अभी बच्चा हूँ, मेरी बुद्धि भी मलिन है, मैं इतने बड़े राज्य का भार वहन करने में असमर्थ हूँ। हे लोकनाथ! आप मेरे ऊपर कृपा करें, मेरे निर्बल कंधों पर, इतना भारी भार न रखें। मैं इसे कभी भी न उठा सकूँगा।'

धर्मराज ने भीगी आँखों से अत्यन्त स्नेह के साथ पुच-

करते हुए कहा—"बेटा! ऐसे अधीर नहीं होते हैं। तुम भरत-वंश में उत्पन्न हुए हो। तुम सब कर सकते हो। आज से तुम्हारे माता, पिता, गुरु, रक्षक ये ब्राह्मण ही हैं, इनसे पूछ कर तुम सब राज्य-काज करना।"

अत्यन्त स्नेह से हठपूर्वक परीक्षित् कहने लगे—"नहीं महाराज! मुझमें इतनी योग्यता नहीं है। आपके चले जाने पर मैं तो एकदम निराश्रित ही हो जाऊँगा। मेरे सिर पर कौन रहेगा? आप कुछ दिन और रहकर मुझे शिक्षा दें, मुझे राज्य-काज करना सिखा दें। अभी तो मैं खेलने के अतिरिक्त कुछ जानता ही नहीं। आप मेरे दुर्बल हाथों में इतना महत्वपूर्ण कार्य सौंप जायँगे और यदि उसका यथा-वत् पालन न हुआ, तो संसार में आपकी, आपके वंश की अपकीर्ति होगी। इसलिये प्रभो! आप अभी हमारा परित्याग न करें। हमें असहाय, अनाथ आश्रयहीन बनाकर वन को न जायँ। मैंने अपने पिता को तो देखा नहीं मैं तो अपना पिता, गुरु, ईश्वर, भगवान् जो भी कुछ समझता हूँ आपको ही समझता हूँ।"

अपने पौत्र के ऐसे प्रेम पूर्ण वाक्यों को सुन कर धर्मराज का हृदय भर आया। उनकी आँखों में प्रेम के आँसू आ गये। उन्हें पोंछ कर और अपने को सम्हालते हुये वे कहने लगे—"देखो, बेटा! सब के माता, पिता, स्वामी वे ही भगवान् वासुदेव हैं। तुम्हारी तो देखो, उन्होंने गर्भ में ही रक्षा की थी। जिसने माता के पेट में—झिल्ली में लिपटे और उलटे होने पर भी रक्षा की, वह क्या अब रक्षा न करेंगे? भगवान् सब मंगल ही करेंगे। तुम समस्त काम उनकी प्रसन्नता के लिये उन्हें समर्पण करके ही करना।"

परीक्षित् रोते-रोते बोले—"प्रभो! मुझे ऐसी आज्ञा न दें आप चाहें जिसे इस राज्य सिंहासन पर बिठा दें। मैं तो आपकी सेवा करता हुआ आपके साथ-साथ वन को चलूँगा। मैंने अब तक कुछ भी तो आप की सेवा नहीं की।"

धर्मराज अत्यन्त महत्व के स्वर में बोले—"अरे, परीक्षित तू तो भैया पगला है। ऐसी विकलता प्रकट नहीं करते हैं तुम अपने पूर्वजों के राज्य का धर्मपूर्वक पालन करो, यह मेरी सब से बड़ी सेवा है। देखो, मैं यदि कोई नई बात करता होऊँ तो बताओ। हमारे वंश में सदा से यही रीति चली आई हैं, कि पुत्र के समर्थ हो जाने पर पिता उसे राज्य देकर वन चला जाय। हमारे सभी पूर्वजों ने ऐसा किया है और तुम से भी हम इसी प्रकार की आशा रखते हैं।"

परीक्षित् जी अधीरता के साथ कहने लगे—"महाराज यह सब तो सत्य है, मैं अकेला क्या करूँगा। आप सब के सब मुझ अनाथ को छोड़ कर जा रहे हैं। आप तो बड़े दयालु हैं, मेरे ऊपर दया क्यों नहीं करते? मेरे साथ ऐसा कठोरता का व्यवहार क्यों कर रहे हैं?"

धर्मराज अत्यन्त स्नेह से उनके शरीर पर हाथ फेरने लगे। परीक्षित् जी के दोनों कमल नयनों से मोतियों की भाँति आँसुओं की लड़ी सी लग रही थी। उनका हृदय फटा जा रहा था। जब भी वे स्मरण करते कि मेरे पाँचों पितामह आज मुझे परित्याग करके चले जायँगे, तभी वे विकल हो उठते। अपने नन्हें से पौत्र को इस प्रकार अधीर देख कर धर्मराज अपने को न रोक सके। आँसू पोंछते हुए वे पास में ही बैठे धौम्य और कृपाचार्य्य आदि कुल के पूजनीय ब्राह्मणों से

कहने लगे—"आप लोग इस परीक्षित् को समझाते क्यों नहीं। अब हम सदा थोड़े ही इस राज्य भार को ढोते रहेंगे। बच्चों को बड़ों का भार हलका करना चाहिये।"

आँखों में आँसू भर कर कृपाचार्य कहने लगे—"क्या समझावें महाराज! हमारी समझ में भी कुछ नहीं आ रहा है। जिस राज्य के पीछे इतना झगड़ा टंटा हुआ, लाखों करोड़ों प्राणियों की हिंसा हुई, इतना रक्तपात हुआ, आज उसे ही आप तृणवत् परित्याग कर रहे हैं। हजार दो हजार, सौ दो सौ वर्ष उसका उपभोग भी न किया। इन्हीं बातों को देख कर हमारी बुद्धि विमूढ़ बन जाती है। काल की गति समझ में नहीं आती, महापुरुषों की चेष्टायें जानी नहीं जातीं।"

अत्यन्त गंभीरता के साथ धर्मराज कहने लगे—"आचार्य! मैंने जो कुछ भी किया, श्रीकृष्ण भगवान् की आज्ञा से किया। मेरे समस्त कार्य उन्हीं के प्रीत्यर्थ थे। मैं जो भी कुछ करता उसे उनके सम्मुख समर्पण कर देता। वे ही सूत्रधार थे, जैसा नाच नचाते थे, मैं विवश होकर वैसा ही नाच नाचता था। मेरी अपनी कोई पृथक् सत्ता थी ही नहीं। अब जब वे स्वयं इस धराधाम को परित्याग कर गये, तब हमारा रहना व्यर्थ है। अब हम किसी भी प्रकार रुक नहीं सकते। धर्म भगवान् के साथ चला गया। सर्वत्र अधर्म ने अपना अधिकार स्थापित करना आरम्भ कर दिया। कलियुग ने मेरे राष्ट्र में, नगरों में, यहाँ तक कि मेरे महलों में भी प्रवेश करने का विचार निश्चित कर लिया। अब हमें यहाँ से चले जाना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है। आप सब मिल कर इस बच्चे की रक्षा करते रहें, इसे उचित शिक्षा दीक्षा—देते रहें, जिससे यह कुमार्गगामी

न बन सके, पथभ्रष्ट न हो सके। धर्म का आचरण करें अपनी वंश-मर्यादा का पालन करे, कुल में कलंक न लगावे और समस्त प्रजा का पुत्र की भाँति लालन-पालन करे।"

इतना कहकर धर्मराज ने अपने पौत्र परीक्षित् जी का सम्राट्-पद पर अभिषेक किया। उन्हें अपना दिव्य मुकुट पहिनाया। सभी सैनिक, सामंत, मंत्री तथा मंडलीक राजाओं ने सम्राट् भाव से उनका अभिवादन किया और प्रजा ने उनके अभिषेक का अभिनन्दन किया।

उसी समय धर्मराज ने वहीं यदुवंश-सूत्र वज्र को बुलाकर मथुरा और शूरसेन देश के राज्यपर अभिषिक्त किया। उन्हें विधिवत् वहाँ का राजा बनाकर परीक्षित् से कहने लगे—"देखो बेटा, इस वज्र को तुम सब प्रकार से रक्षा करना। इसे कोई शत्रु पीड़ा न पहुँचाने पावे। तुम दोनों चचा भतीजे मिल कर धर्म पूर्वक पृथ्वी का शासन करना। यह हमारे सर्वस्व श्रीकृष्ण का वंशधर है। श्रीकृष्ण की कृपा से ही हम राज्य-पाट, सुख समृद्धि और तुम्हें प्राप्त कर सके हैं। तुम कभी भूल कर भी इसके साथ कुटिलता का व्यवहार मत करना। इसे अपने पुत्र से भी बढ़ कर प्यार करना।" इतना कह कर वे वज्र को समझाने लगे—"देखो, यह परीक्षित् तुम्हारा चाचा है इसे तुम अनिरुद्ध की ही भाँति मानना। सदा इसका आदर करना, इसकी आज्ञा में रहना और कोई शत्रु तुम्हें कष्ट दे, तो इसी से सहायता लेना। तुम दोनों का वंश एक ही है। दोनों बड़े प्रेम से रहना।" इस प्रकार धर्मराज ने दोनों को ही राजा बना कर भाँति-भाँति के उपदेश दिये। दोनों ने रोते-रोते सिर झुकाकर हाथ जोड़े हुए धर्मराज की शिक्षा शिरोधार्य की। उन्होंने अपने-अपने दिव्य मुकुटों वाले सिर से

जिनके बाल अभिषेक के पवित्र जल से भीगे हुए थे, धर्मराज तथा सभी पांडवों के चरणों में प्रणाम किया। सभी ने पुत्र स्नेह से भरे हृदय से दोनों को छाती से चिपटा कर उनका मुँह चूमा, प्यार किया, आशीर्वाद दिया और वे ब्राह्मणों को प्रणाम करके उसी समय महाप्रस्थान के लिये उठ खड़े हुए।

छप्पय

कहें परीक्षित् प्रभो! प्रजा पालन अति दुष्कर।
हौं मति मन्द मलीन अज्ञ अतिशय हे नृपवर॥
कृपासिन्धु! करि कृपा काज सब मोइ सिखावें।
आश्रयहीन अनाथ नाथ! अबहीं न बनावें॥
कहु पिपीलिका हिमालय, कैसे निज सिर पर धरे।
कस कपोत निज पंख पै, धरणीधर धारण करे॥

पाँचों पांडवों का परलोक प्रयाण

(६५)

उदीचीं प्रविवेशाशां गतपूर्वां महात्मभिः।
हृदि ब्रह्म परं ध्यायन्नावर्तेत यतो गतः॥
सर्वे तमनुनिर्जग्मुर्भ्रातरः कृतनिश्चयाः।
कलिनाधर्ममित्रेण दृष्ट्वा स्पृष्टाः प्रजा भुवि[१]॥
(श्रीभा० १ स्क० १५ अ० ४४, ४५ श्लो०

छप्पय

किये परीक्षित् नृपति चले सब पांडव बनकूँ।
राज पाट परिवार सभी तें खेंच्यो मन कूँ॥
चीर बसन आहारन्तजे, कच कुंचित खोलैं।
जड़ उन्मत्त समान न काहू तें कछु बोलैं॥
जैसी बीती जामिनी, नहिं लौटति पुनि जाइकें।
उत्तर दिशि कूँ चल दिये, हरिपद हिय में लाइकें॥

धर्म की गति कितनी सूक्ष्म है, इसे वे जिनका विषयोपभोग ही जीवन का चरम लक्ष्य है, ऐसे विषय-वासना में बद्ध प्राणी कैसे समझ सकते हैं? सभी कार्य समयानुसार शोभा

---

१ महाराज युधिष्ठिर अपना सर्वस्व त्याग कर हृदय में परब्रह्म का चिन्तन करते हुए उसी उत्तर दिशा की ओर चल दिये, जिस

हैं। किसी के लिये कोई काम एक समय अधर्म होता है,
ो दूसर समय धर्म हो जाता है। गुरुकुल में रहते समय
स ब्रह्मचारी के लिये स्त्री छूना, देखना तो कौन कहे, चिंतन
ना भी अधम है, वही जब समावर्तन करा के स्नातक होकर
ह-गृह से निकलता है, तो उसे एक दिन भी विना दारा के
ना अधर्म हो जाता है। उस समय उसे अग्निहोत्र के साथ
साथ दारा ग्रहण भी करना परम धर्म है। दारा और अग्नि-
त्र को छोड़ कर वह एक दिन भी उनसे पृथक् नहीं हो
कता।

यदि हम सभी कार्यों को इन्द्रिय सुख के लिये नहीं, धर्म
लिये—कर्तव्य पालन की दृष्टि से—ग्रहण करें तो हम अनेक
कार के पाप, ताप और दुःख, शोक से बच सकते हैं। धर्म
ी एक ऐसा बन्धु है जो इस लोक और परलोक में सुख
हुँचाता है। यह सम्भव हो सकता है, कि धर्म से कुछ काल
के लिये इस लोक में कष्ट सा भी उठाना पड़ता है, किन्तु धर्म
के लिये उठाये जाने वाले कष्ट में भी एक प्रकार के सुख
संतोष का अनुभव होता है। परलोक में तो उसका फल सुख
ही सुख है। इसके विपरीत यह भी देखा गया है कि अधर्म
से कुछ काल के लिये ऐश्वर्य वृद्धि सो भी दिखाई देती है।
इन्द्रिय जन्य सुख सामग्री की भी बहुलता हो जाती है, किन्तु
अधर्म से उपार्जित धन वालों को सदा मानसिक चिन्तायें बनी

दिशा में सदा से बहुत से महात्मा गये हैं और जहाँ जाकर कोई लौटता
नहीं। उनके सब भाइयों ने भी जब देखा, कि सभी प्रजा के लोगों पर
कलियुग ने अपना आतंक जमा लिया है, तो उन्होंने भी महाप्रस्थान
का निश्चय करके धर्मराज का अनुगमन किया।

ही रहती हैं। सुन्दर शैया पर पड़े-पड़े भी उनका मन ही बना रहता है, उन्हें नींद नहीं आती, स्वादिष्ट में स्वाद का अनुभव नहीं होता। दूसरे अज्ञ पुरुषों को तो ठाठबाट रहन-सहन से सुखी सा प्रतीत होता है, भीतर ही भीतर उनका हृदय जलता रहता है। संताप शोक की ज्वाला दहकती रहती है। इस लोक में तो वह इस प्रकार उद्विग्न बना रहता है और मर कर भी उसे नरकों की यातनायें भोगनी पड़ती हैं।

दुर्योधन ने अन्याय से पांडवों का राज्य छीन लिया राज्य पाकर भी वह सुखी नहीं हुआ। पांडवों के भय से सदा भयभीत ही बना रहा। उसे इतनी अधिक सामग्रियाँ आनन्दित न कर सकीं। वह सदा चिं शोकाकुल, दुखी और विकल ही बना रहा। रात्रि दिन पांडवों को नष्ट करने के ही उपाय सोचता रहता था, अंत में उसे ही अपने समस्त कुटुम्ब, परिवार तथा सर्व सम्बन्धियों के सहित नष्ट होना पड़ा। जिस राज्य को उसने भाँति-भाँति के छल-कपट और अधर्म से बढ़ाया था, वह यहीं का यहीं पड़ा रहा। अंत में उसे नर्क की यातनायें भोगनी पड़ीं।

जब हम पांडवों को विराट् नगर की राजधानी में युद्ध के लिये उद्योग करते देखते हैं तो ऐसा लगता है कि वे राज्य के लिये अत्यन्त ही उत्सुक हैं। राज्य प्राप्ति के लिए उनके मन में इतना अधिक लोभ है, कि ये सभी कर्तव्य अकर्तव्य कर सकते हैं। फिर जब युद्ध में भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य आदि अपने परम पूजनीय, माननीय गुरुजनों को, श्रीकृष्ण की सहायता से भाँति-भाँति के छल-कपट और अनीति उपायों

मारते देखते हैं, तब तो हमें निश्चय हो जाता है कि ये पांडव भूखे बाघ की भाँति सिंहासन के लोभ से सब कुकर्म कर सकते हैं। ये अपने सभी प्रतिपक्षियों और प्रतिद्वन्दियों को मार कर समस्त पृथ्वी पर सदा निष्कंटक राज्य करना चाहते हैं। जब इन्हें राज्य मिल जायगा, तो जीवन पर्यन्त उसका निर्द्वन्द होकर उपभोग करेंगे। किन्तु जब उन्हें ही श्रीकृष्ण के स्वधाम पधारने पर, समस्त राज्य-पाट को तृणवत् त्याग कर उन्मत्त पागलों के वेष में वन जाते देखते हैं, तब हमें ध्यान होता है—अरे, इन्हें राज्य का लोभ नहीं था। राज्य और संसारी सुखों के लिए ही ये संहार आदि कार्य करते तो इस इतने समृद्धिशाली राज्य को स्वयं स्वेच्छा से त्याग कर क्यों जाते? इन्होंने जो भी कुछ किया धर्म के लिए किया, श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के निमित्त उनकी आज्ञा समझ कर किया। भगवान् वासुदेव के स्वधाम सिधारते ही ये इन सभी तुच्छ, अनित्य, नाशवान् भोगों को त्याग कर उसी प्रकार चल दिये, जैसे सर्प अपनी पुरानी केंचुली को त्याग कर चल देता है।

धर्मराज युधिष्ठिर ने सभी करने योग्य कार्य किये। अपनी माँ के श्रीकृष्ण प्रेम को देखकर उनका वैराग्य और बढ़ गया। उन्होंने अग्निहोत्र की समस्त अग्नियों को अपने भीतर लीन कर लिया। अब वे अग्निहोत्र हीन होकर उसके बन्धन से मुक्त हो गये। अग्नियों को शरीर में धारण करके उन्होंने अपने समस्त बहुमूल्य वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये। गृह, कुटुम्ब, राज्य, परिवार में जो अहंता ममता थी, उसका भी उन्होंने परित्याग कर दिया। उन्होंने अपनी वाणी को प्राण में, प्राण को अपान में, अपान को मृत्यु कराने वाले समान में और उस समान को पंचभूतात्मक शरीर में लीन कर दिया। अब उन्हें

अपने शरीर के प्राणों में और विश्व में व्याप्त प्राणों में कोई भी अन्तर दिखाई न देने लगा। वे अपने शरीर को अनित्य और नाशवान् समझने लगे।

शरीर का मूल कारण है सात्विक, राजसिक और तामसिक—ये तीन गुण। अतः शरीर को उन्होंने त्रिगुण में लीन किया। त्रिगुण मूल प्रकृति से ही विषम होकर इस सृष्टि संघात को उत्पन्न करते हैं। अतः त्रिगुण को उन्होंने मूल प्रकृति में मिला दिया और प्रकृति को शरीराभिमानी आत्मा में लीन किया तथा आत्मा को समान रूप से विश्व में व्याप्त सर्वान्तर्यामी अविनाशी परब्रह्म में लीनकर दिया। अब उनकी दृष्टि में अपने इष्ट के अतिरिक्त कुछ रहा ही नहीं। यह सम्पूर्ण नाम रूपात्मक जगत् उनके सामने से विलीन हो गया।

एक चीर का वस्त्र वे पहिने थे, जब से उन्होंने श्रीकृष्ण के स्वधाम पधारने की बात सुनी थी तभी से उन्होंने सभी प्रकार के आहारों का परित्याग कर दिया था। शरीर का शृङ्गार करना उन्होंने छोड़ दिया था। आज अपना मुकुट परीक्षित् के सिर पर रख कर, वे उन्मत्त पागलों के समान बन गये। उन्होंने सिर के बाल खोल दिये थे, सम्पूर्ण शरीर में धूलि लपेट ली थी।

उनकी ऐसी दशा देखकर समस्त पुरजन, परिजन, बन्धु-बांधव सगे सम्बन्धी तथा अन्तःपुर की रानियाँ ढाह मारकर रोने लगीं। महाभारत के पश्चात् जो करुण दृश्य उपस्थित हुआ था, वही दृश्य आज फिर दिखाई देने लगा। प्रजा के लोग रोते हुए कह रहे थे—"महाराज! आप हमें छोड़कर कहाँ जा रहे हैं? प्रभो! हम आपके बिना कैसे जीवित रहेंगे?

अन्तःपुर की स्त्रियाँ रोती, चिल्लाती और विलाप करती हुई महाराज के पीछे-पीछे चल रही थीं। धर्मराज न तो किसी की ओर देखते थे, न किसी की बात सुनते थे, न किसी के नमस्कार, प्रणाम का उत्तर देते थे, न किसी से कुछ पूछते थे। ये आँखें रहते हुए भी अन्धों के समान बन गये थे। कान रहते हुए भी नहीं सुनते थे, बुद्धि रहते हुए भी उन्मत्त पुरुषों की सी चेष्टायें कर रहे थे। उनके लिये अब कोई न अपना था, न पराया। स्त्रियाँ छाती पीट रही थीं, मन्त्री रो रहे थे, महाराज परीक्षित् बालकों की भाँति विलाप कर रहे थे, सभी भाई उनके पीछे चल रहे थे। नगर के, राज्य के स्त्री-पुरुष उनका अनुगमन कर रहे थे, किन्तु वे न किसी की ओर देखते न अपने साथ आने से ही मना करते थे। जब सभी लोग नगर से बहुत दूर निकल आये, सुकुमारी स्त्रियों के धूप के कारण मुख कुम्हला गये, चलने का अभ्यास न होने से अब वे थक गईं, तो सबको समझाते हुए कृपाचार्य बोले—"महाराज युधिष्ठिर अब परमहंस हो गये हैं, उन्होंने मन से सभी कार्यों का, समस्त सम्बन्धों का परित्याग कर दिया है। अब उनसे नगर में लौट चलने की आशा करनी व्यर्थ है। अब इनको सुख पूर्वक जाने दो। इनके मार्ग में विघ्न उपस्थित न करो।"

इतना सुनकर प्रजा के सब लोग खड़े हो गये। स्त्रियाँ थक कर बैठ गईं। आगे बढ़कर रोते-रोते पृथ्वी में लोट कर दुखित चित्त से महाराज परीक्षित् ने धर्मराज को साष्टांग प्रणाम किया उनकी पद धूलि उठाकर समस्त शरीर में मली और वे बिलखते हुए भूमि में ही पड़े रहे। धर्मराज ने उनकी ओर देखा तक नहीं, वे उसी प्रकार निरपेक्ष भाव से आगे बढ़ते गये।

महाराज परीक्षित् को आशा थी, कि मेरे अन्य चा पितामह मेरे समीप रहेंगे, किन्तु उन्होंने जब देखा वे .. पीछे जा रहे हैं तब तो बड़े वेग से दौड़कर उन्होंने .. रास्ता रोक लिया और रोते-रोते बोले—"महाराज! आप कहाँ जा रहे हैं? आप तो लौट कर नगर में चलें।"

अर्जुन का हृदय भर आया। अपने फूल की भाँति सुकुमार पोते को इस प्रकार रोते बिलखते देख कर उनकी में आँसू आ गये। अपने प्रेम के वेग को रोककर बोले—बेटा अब तुम लौट जाओ, हमने तो सदा अपने भाई अनुसरण किया है। अन्त समय हम उन्हें अकेले कैसे छो. सकते हैं? सुखपूर्वक राज्य पाट करो।

अत्यन्त कातर स्वर में रोते-रोते महाराज परीक्षित् ने "महाराज! आप सभी मुझे अनाथ बना कर चले जायँगे मुझे शिक्षा कौन देगा, मेरी रेख-देख कौन करेगा?"

अर्जुन बोले—"भैया, तुम्हारे नाथ तो श्रीद्वारकानाथ हैं। वे सर्वान्तर्यामी प्रभु ही तुम्हारी रक्षा करेंगे। जाओ तुम, अब देर हो रही है।" इतना कह कर चारों भाई शीघ्रता से चले। द्रौपदी ने भी उन सब का अनुसरण किया। नगरवासियों के सहित महाराज परीक्षित् थोड़ी देर तक तो खड़े-खड़े अपने पितामहों को देखते रहे। जब वे वृक्षों की आड़ में हो जाने के कारण उनकी दृष्टि में ओझल हो गये तो जिस उत्तर दिशा में उनके पूर्वज गये थे उस दिशा को प्रणाम करके वे लौट पड़े। समस्त अन्तःपुर की स्त्रियों को उन्होंने वाहनों में बिठाया और आप स्वयं कृपाचार्य तथा युयुत्सु के साथ रथ में बैठकर हस्तिनापुर आये और वहाँ आकर धर्मपूर्वक राज्य-काज करने लगे।

पांडव महाप्रस्थान का निश्चय करके नगर से निकले थे। महाप्रस्थान उसे कहते हैं, कि—बिना कुछ खाये पिये, बिना विश्राम लिये उत्तराखण्ड की ओर चलते ही रहें। जब तक शरीर-पात न हो जाय तब तक बिना किसी की ओर देखे, बिना कोई शारीरिक क्रिया करे, आगे बढ़ते ही जायँ। पांडव सभी धर्मात्मा थे। उन्होंने अपनी बुद्धि में पाप को कभी स्थान नहीं दिया था। सब से बड़ी बात तो यह थी, कि वे भगवान् वासुदेव के अनन्य भक्त थे। उनकी आनन्द-घन-नन्द-नन्दन श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों में अनपायिनी अहैतुकी भक्ति थी, अतः उन्हें महाप्रस्थान में न कोई शारीरिक कष्ट हुआ न मानसिक। वे संसार से उदासीन बने हुए, बिना एक दूसरे की ओर देखे, आगे बढ़े जा रहे थे। कोई किसी के दुःख सुख की चिन्ता नहीं करता था, न किसी से कोई कुछ कहता ही था। जब द्रौपदी ने देखा कि ये सब तो मेरी ओर से उदासीन हो गये हैं, इन्हें मेरी अपेक्षा ही नहीं, तब इनका पीछा करना व्यर्थ है। यह सोचकर वह एक स्थान में बैठ गई। वह अपने चित्त में अपने सर्वस्व परमाराध्य भगवान् वासुदेव का ध्यान करती हुई उन्हीं में लीन हो गई।

पांडवों ने शास्त्र की आज्ञानुसार विधिवत् सभी धर्मों का अनुष्ठान किया था। उनकी अन्तिम शरण श्रीश्यामसुन्दर ही थे अतः उन्होंने हृदय से और सब प्रपंचों का तो परित्याग कर दिया, किन्तु हृदयधन श्यामसुन्दर को वे अपने चित्त में धारण किये रहे। निरन्तर भगवान् का ध्यान करने से उनके हृदय में अहैतुकी पराभक्ति उत्पन्न हुई। अत्यन्त वेग के साथ बढ़ी हुई भक्ति के कारण उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया। इस प्रकार सभी मलों के दूर हो जाने से वे सब के सब निष्पाप

पांडव परमगति को प्राप्त हुए। भगवान् के उन धाम को प्राप्त किया, जिसे विषयासक्त पुरुष कभी भ— कहीं भी द्वारा—प्राप्त नहीं कर सकते। वे भगवान् के लोक में चले गये।

इस प्रकार भगवान् के स्वधाम पधारने के अनन्तर राष्ट्र और गांधारी ने दावाग्नि में जलकर, कुन्ती ने महलों ही भगवत् वियोग में, विदुरजी ने प्रभास-क्षेत्र में और सहित पांडवों ने उत्तराखण्ड में, अपने अपने पाञ्चभौतिक शर को त्याग दिया। ये सभी अपनी तीव्र भक्ति के कारण शु आत्म स्वरूप से भगवत् गति को प्राप्त हुए।

इसपर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! हमने तो सुन था, पांडव अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग में गये और उन्हें भाव से नरक के भी दर्शन करने पड़े, परन्तु आप कह रहे हो कि सब शरीर त्यागते ही भगवत् गति को प्राप्त हुए। यह क्या बात है? हमारी इस शङ्का का समाधान कीजिये।"

शौनकजी के इस प्रश्न को सुनकर सूतजी हँसे और बोले—"ब्रह्मन्! महाभारत के प्रसंग में मैंने भी ऐसा सुना है। ये सब कर्ममार्ग की गति हैं, जहाँ काम्य-कर्मों को ही प्रधानता दी गई है, वहाँ स्वर्ग, नरक कर्मानुसार भोगने ही पड़ते हैं। किसी कल्प में पांडवों ने ऐसे ही कर्मगति प्राप्त की होगी, किन्तु इस "भगवती कथा" के प्रसंग में ऐसी बात नहीं हुई। इस मार्ग में कर्मों की प्रधानता नहीं। यहाँ तो समस्त कर्म ब्रह्मार्पण बुद्धि से भगवान् वासुदेव के प्रीत्यर्थ ही किये जाते हैं। भक्तों के लिये स्वयं कोई पुरुषार्थ करने का विधान नहीं है, जिन्होंने अपना सर्वस्व श्रीकृष्ण चरणों में अर्पित कर दिया है, जो मनसा, वाचा, कर्मणा भगवत् शरण में प्राप्त हो चुके हैं। जो

पन्न हो गये हैं, वे स्वतः किसी कर्मानुष्ठान को कैसे कर सकते हैं। वे तो जो भी कुछ करते हैं अपने स्वामी भगवान् नन्द-नन्दन की प्रेरणा से ही करते हैं। वे अपने अहंभाव को तो अपने इष्ट के चरणों में पहिले ही चढ़ा चुके हैं। उनके द्वारा जो भी कोई कार्य प्रारब्धानुसार भगवत् प्रेरणा से हो जाता है, उसे वे उसी क्षण "श्रीकृष्णार्पणमस्तु" कहकर भगवान् को समर्पित कर देते हैं और प्रार्थना करते हैं—'हे नाथ! मेरे द्वारा जो कार्य हुए हैं, जो हो रहे हैं अथवा जो आगे होंगे, वे सब मैंने नहीं किये, आपने ही किए कराये हैं। जब उनका मैं कर्ता न होकर आप ही कर्ता और प्रेरक हैं, तो उनके फलों को भी आप ही भोगिये। सेवक जो कार्य करता है, व्यापार में लाभ या हानि करता है, वह सब स्वामी का ही माना जाता है। उसे तो नियत वृत्ति ही मिलती है। इसलिए मैं तो आपका वृत्तिभोगी दास हूँ। कर्ता-भोक्ता तो आप ही हैं।'

हमारी इस 'भागवती कथा' के पांडव इसी बुद्धि से कार्य करते थे, फिर आप ही सोचिये उनको नरक या स्वर्ग का दुख सुख क्यों भोगना पड़ेगा? वे तो दुख-सुख सभी से छूटकर निर्द्वन्द्व होकर भगवत् धाम को पधार गये। पांडवों की बात तो कहनी ही क्या, वे तो भगवान् के परमप्रिय पार्षद उनके स्वरूप ही थे, उनकी तो ऐसी गति होनी थी! मेरे गुरु के भी गुरु भगवान् व्यास देव ने तो, बड़ी दृढ़ता के साथ बड़े स्पष्ट शब्दों में बिना किसी लगाव-लपेट के यह बात कही है "जो भी मनुष्य भगवान् के परमप्रिय पार्षद इन पांडवों के महाप्रयाण की इस परमपवित्र और अत्यन्त ही कल्याणकारिणी कथा को श्रद्धापूर्वक सुनेंगे वे भी भगवान् की अहैतुकी भक्ति प्राप्त करके

परमसिद्धि को प्राप्त करेंगे१।" जिनकी कथा सुनने वालों
परमासिद्धि की प्राप्ति हो, उनको सिद्धि के सम्बन्ध में तो
कहना ही नहीं।

सूतजी के मुख से अपनी शङ्का का इस प्रकार समाध
सुन कर शौनकादि मुनि परम सन्तुष्ट हुए और वे कहने लगे
"सूतजो! आपने बड़ी बुद्धिमानी से हमारी शङ्का का समाध
किया। अब आप हमें महाराज परीक्षित् का अग्रिम-चर्
सुनाइये।"

ऋषियों के ऐसा कहने पर सूतजी अब परीक्षित्—चर्
कहने को उद्यत हुए।

छप्पय

गांधारी धृतराष्ट्र विदुर कुन्ती हरि हिय धरि।
पांडव पत्नी सहित गये परिवार दुखी करि॥
तनु त्यागो यश छाँड़ि धाम बैकुण्ठ सिधारे।
सब के सुख कर मधुर चरित हैं अतिशय प्यारे।
जे श्रद्धा तैं सुनहिँ नर, पढ़हिँ प्रेम तैं गायँगे।
पुण्य परम पद पायँगे, भवसागर तर जायँगे॥

---

१ यः श्रद्धयैतद् भगवत्प्रियाणाम्,
पाण्डोः सुतानामिति संप्रयाणम्।
शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रम्,
लब्ध्वा हरौ भक्तिमुपैति सिद्धिम्॥
(श्रीभा० १ स्क० १५ अ० ५१ श्लो०)

महाराज परीक्षित्

(६६)

ततः परीक्षिद् द्विजवर्यशिक्षया,
महीं महाभागवतः शशास ह।
यथा हि सूत्यामभिजातकोविदाः,
समादिशन् विप्र महद्गुणस्तथा ॥ १

(श्रीभा० १ स्क० १६ अ० १ श्लो०)

छप्पय

पूज्य पितामह परमपुण्य परलोक पधारे।
भये परीक्षित् नृपति सुनत सब सन्त सुखारे॥
यज्ञ याग बहु करे दान दुखियन कूँ दीन्हें।
इरावती में चारि गुणी सुत पैदा कीन्हें॥
कृपाचार्य की कृपा तैं, अश्वमेध कैई करे।
यों ऋषि-ऋण सुरपितर-ऋण, तीनों ऋणतें नृप तरे॥

संसार की परम्परा अविच्छिन्न है। एक आता है एक जाता है। कुछ मरते हैं कुछ जन्मते हैं। बहुत से पुराने स्थान टूट जाते हैं, बहुत से नये बन जाते हैं। जो स्थान खाली होते

---

१ सूतजी कह रहे हैं—"हे विप्रवर्य शौनकजी! इसके अनन्तर विद्वान् ब्राह्मणों की शिक्षा के ही अनुसार महाभाग महाराज परीक्षित्

हैं समयानुसार उनकी पूर्ति हो जाती है। इस प्रकार विश्वप्रपञ्च सदा से चला आया है, सदा चलता रहेगा संसार की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं नाशवान् हैं। " सम्बन्ध श्रीकृष्ण से है उनके नाम यशगुण-कीर्तन के जो जुट गये हैं उन सब का तो कभी नाश होता नहीं, वे तं सदा सर्वदा एक रस बने रहते हैं। शेष सब तो पानी के बुद बुदे की भाँति उत्पन्न होते हैं मरते हैं। अतः श्रीकृष्ण उनके भक्तों का यश ही सदा श्रवणीय है।

"पांडव महाप्रस्थान करके परलोक पधार गये। अब भरतवंश की गद्दी पर महाराज परीक्षित् बैठे। महाराज परीक्षित के सिंहासनारूढ़ होते ही सब प्राणियों को परम आनन्द प्राप्त हुआ। वे बड़े धर्मात्मा, न्यायपरायण और प्रजावत्सल महाराज थे उनके राज्य में सिंह और बकरी एक घाट पर पानी पीते थे, कोई भी बलवान् पुरुष निर्बलों को सता नहीं सकता था। उनके राज्य में वायु भी किसी की वस्तु को हरण नहीं कर सकती थी, फिर चोरों की तो बात ही क्या! यदि वे सुन भी लेते कि किसी ने पर-स्त्री की ओर बुरी दृष्टि से देखा है, तो उसे कठिन से कठिन दंड देते। समय पर वर्षा होती, पृथ्वी यथेष्ट अन्न-धान्य उत्पन्न करती, प्रजा के सभी लोग सुखी थे, केवल दुष्ट-दुर्जन पुरुष ही उनके उग्रशासन से सदा भयभीत बने रहते थे।"

जी समस्त पृथ्वी का शासन करने लगे। उनके जन्म के समय फलित ज्योतिष विद्या-विशारद, पंडितों ने उनकी लग्न को देखकर जो जो, महान् गुण वाले फल बताये थे, वे सब के सब गुण ज्यों के त्यों उनमें प्रकट हुए।

महाराज परीक्षित् ने अपने मामा उत्तर की लड़की इरावती साथ विधि पूर्वक विवाह किया।" इस बात को सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! धर्मात्मा महाराज परीक्षित् ऐसा अधर्म का सम्बन्ध क्यों किया? मामा की लड़की तो बहिन होती है। शास्त्रों में तो ऐसा सम्बन्ध सर्वथा निन्दनीय और गर्ह्य माना गया है, फिर धर्मात्मा महाराज ने ऐसा लोक-निन्दित शास्त्रगर्हित विवाह क्यों किया?"

शौनकजी की शङ्का को सुनकर सूतजी बोले—"महाराज! क्या बतावें। संसर्ग से अच्छे-अच्छे लोगों में गुण, दोष आ जाते हैं। तभी तो आर्य-संस्कृति में अनार्यों के संसर्ग को सबसे बड़ा पाप बताया है। वैदिक पुरुषों को, समाज वेद को आप न मानें वर्णाश्रमी इसे सह सकता है, ईश्वर को न मानें इसे भी क्षमा कर सकता है। ईश्वर को निराकार मानें, साकार मानें, उसे द्वैत, अद्वैत किसी भाव से पूजें, समाज इसमें हस्तक्षेप नहीं करता किन्तु जब कोई अनार्यों से संसर्ग करता है, समाज की परम्परागत रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न करता है, तो समाज उसे अपने से पृथक् कर देता है। किन्तु जब सम्पूर्ण समाज ही किसी कुप्रथा को स्वीकर कर ले, तो फिर वह लोकरीति बन जाती है। पिता की आज्ञा न मानने पर महाराज ययाति ने अपने पुत्र यदु को शाप दिया था, कि तुम्हारे वंश के लोग अपने मामा की लड़कियों से भी विवाह सम्बन्ध कर लिया करेंगे।" जब तक यादव इस ब्रह्मर्षियों से सेवित ब्रह्मावर्त देश में रहे, तब तक उनमें यह प्रथा प्रचलित नहीं हुई थी। जब वे इस पुण्यभूमि को त्याग कर दक्षिण की ओर द्वारकापुरी में चले गये, तभी से उनमें देशाचार मान कर यह कुप्रथा आरम्भ हो गई। दक्षिण में अनार्यों के संसर्ग

के कारण यह प्रथा बहुत दिनों से प्रचलित थी। आश्चर्य बात तो यह है कि वहाँ के ब्राह्मणों में भी यह प्रथा है। वहाँ तो मामा की लड़की तथा फूआ की लड़की से विवाह करते हैं। भगवान् ने भी अपनी फूआओं की लड़ से विवाह किये। उनके लड़कों ने फिर उनका किया। उनसे ही अर्जुन ने सीखा फिर यह प्रथा इन भी चल पड़ी। नहीं तो जैसा आप कह रहे हैं, ऐसे शास्त्रानुसार सर्वथा विरुद्ध हैं, परन्तु जो परम्परा पड़ है, उसे लोग इच्छा से अनिच्छा से स्वीकार कर ही लेते। इसीलिए महाराज परीक्षित् ने भी इस सम्बन्ध को स्वी किया।

महारानी इरावती बड़ी सती, साध्वी और सर्व सुलक्षण से लक्षित पतिपरायणा रानी थी। उनके गर्भ से जनमेजय आदि चार पुत्ररत्न उत्पन्न हुए। ये सभी अश्वमेध आदि यज्ञों के करने वाले और कुल की कीर्ति को बढ़ाने वाले राजर्षियों के समान नरपति हुए। महाराज जनमेजय तो धर्म के स्वरूप ही थे। उनके द्वारा ही संसार में पुराण, इतिहास और महाभारत आदि का प्रचार तथा प्रसार हुआ।

धर्मराज महाप्रस्थान के समय महाराज परीक्षित् को अपने कुल पुरोहित कृपाचार्य को सौंप गये थे। महाराज उनका बड़ा सम्मान किया, वे जो भी कोई कार्य करते सब आचार्यकृप से पूछ कर ही करते। बिना वेदज्ञ ब्राह्मणों की सम्मति लिये वे कुछ भी कार्य नहीं करते। इसीलिये सब ऋषि मुनी तथा धर्म के मर्म को जानने वाले विद्वान उनका बड़ा आदर करते। उन्होंने अपने कुल के रीति के अनुसार पूज्य

मण्डल के सभी राजाओं को जीतकर गङ्गा जी के किनारे तीन अश्वमेध यज्ञ किये। उनके यज्ञों में ब्राह्मणों को बड़ी बड़ी दक्षिणायें दी गईं। उन सब यज्ञों को कुलगुरु कृपाचार्य ने ही विधिवत् सम्पन्न कराया। इससे उनकी ख्याति समस्त भू-मंडल तथा स्वर्ग तक फैल गई। सब लोग यही कहने लगे—"ये महाराज तो भरतवंश के तिलक हैं, इन्होंने पांडवों की कीर्ति को अक्षुण्य बनाये ही नहीं रखा, किन्तु उसे और भी विस्तृत किया है।

महाराज परीक्षित् के समय में एक भी ऐसा राजा नहीं था, जो उनकी अधीनता स्वीकार न करता हो, सभी उनकी आज्ञाओं का यथावत् पालन करते। समस्त भू-मंडल पर उनकी आज्ञा मानी जाती, इसीलिए उन्हें किसी से लड़ाई करने का, जीतने का कभी अवसर ही प्राप्त न होता। वे अपने रथ पर चढ़कर समस्त पृथ्वी पर भ्रमण करते, किन्तु कोई उनके सम्मुख नहीं आता था। हाँ, एक बार कलियुग का उन्होंने प्रयागराज में अवश्य निग्रह किया था। उससे तो उनकी मुठभेड़ हुई थी, किन्तु वह उन धर्मात्मा से युद्ध करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने दीनता से उनकी शरण ग्रहण की और भिक्षुक की भाँति हाथ जोड़कर कहीं रहने का स्थान माँगा। राजन्! ये विधर्मी पहिले ऐसे ही सीधे सादे गौ बनकर आते हैं, फिर जहाँ इनके पैर जमे वहीं सिंह बन जाते हैं। महाराज परीक्षित् ने दीन शरणहीन समझ कर इसे रहने को स्थान दे दिया था। बस धीरे-धीरे इस कलियुग ने अपने पैर फैला लिये। पाँच हजार वर्ष तो धर्मराज के वरदान से यह भीतर ही भीतर बढ़ता रहा। पाँच हजार वर्ष पूरे होने पर तो यह खुलकर खेलने लगा। इसने अपना यथार्थ रूप सबके सम्मुख प्रकट कर दिया। इसी भाँति यह घटते-बढ़ते जब धर्म का सभी प्रकार से लोप कर देगा,

तब भगवान् कल्कि रूप से प्रकट होकर इसका नाश करें और फिर से सतयुग स्थापित हो जायगा।

महाराज परीक्षित् इतने धर्मात्मा थे, कि कलियुग का भी ऐसा साहस न हुआ कि वह उनके बिना पूछे राज्य में रह सके। महाराज से आज्ञा प्राप्त करने का उसने एक उपाय सोचा। उसने शूद्र राजा का वेष बनाया और डंडे से एक बैल और गौ को मारने लगा। बैल रूप में तो साक्षात् धर्म ही थे और गौ का रूप पृथ्वी ने धारण कर रखा था। सदा से गौ और बैल अवध्य बताये गये हैं। कोई भी वर्णाश्रमी आर्य न इनका कभी वध करता है और न शारीरिक दंड ही देता है। गौ को लोक-माता मानकर मानते और पूजते आये हैं कलियुग ने सर्वप्रथम उनपर ही प्रहार किया। ऐसा विपरीत आचरण करते देखकर ही धर्मावतार परीक्षित् ने उसे निग्रह किया।

सूतजी के मुख से ऐसी बात सुनकर समस्त मुनियों की ओर से शौनकजी पूछने लगे—"सूतजी, आप बड़ी अद्भुत बात कह रहे हैं। कलियुग तो एक देवयोनि का दिव्य पुरुष है मनुष्य होकर महाराज परीक्षित् ने उसका दमन कैसे किया? एक संदेह हमें और भी हो रहा है। कलियुग तो पाप तथा अधम का स्वरूप ही है। दुर्गुणों का सागर ही है। जब दिग्विजय के समय महाराज को वह मिल ही गया था तो उसे मार क्यों नहीं डाला? उस धर्म-कंटक को सदा के लिए संसार से विदा क्यों नहीं कर दिया? उसे जीवित ही क्यों छोड़ दिया? राजाओं के चिह्न धारण किये हुए वह शूद्र कौन था. कलियुग ने ही अपना ऐसा रूप धारण कर लिया था

ा वह सूक्ष्म रीति से किसी शूद्र के शरीर में प्रवेश कर गया ा। वहाँ जो गौ और बैल को आप बतला रहे हैं, वे कौन थे ? इन सब बातों को हमें विस्तार से बताइये।

आप कहेंगे कि तपस्वी, होकर आप कलियुग की बातें क्यों पूछ रहे हैं ? सो सूतजी हमारा अभिप्राय कलियुग-चरित्र श्रवण करने का नहीं है। यह प्रश्न हमने इसलिए कर दिया कि महाराज परीक्षित् भगवद्भक्त हैं। गर्भ में ही भगवान् ने उनके ऊपर कृपा की थी, बाल्यकाल से ही वे श्रीकृष्ण चरणारविन्दों के अनुरागी थे। उनका समस्त जीवन ही भक्तिमय होगा, उनका चरित्र श्रवण करने से स्वतः ही भगवत् सम्बन्धी कथाओं का, भक्तों के पावनयश का कथन होगा, इसी लोभ से हमने यह प्रश्न किया है। यदि इससे कुछ श्रीकृष्ण कथा का आश्रय हो अथवा उनके चरणारविन्द मकरन्द के लोलुप भ्रमर रूपी भक्तों का कोई प्रसंग हो, तब तो आप इस विषय को हमें सुनावें और यदि यह सब न हो, तो इसे छोड़कर आगे की कथा कहें। हम ये संसारी व्यर्थ की बातें सुनना नहीं चाहते। संसारी लोग जहाँ इकट्ठे होंगे वहाँ वही विषय चर्चा करेंगे। यहाँ हम गये हमने ऐसी-ऐसी वस्तुओं का उपभोग किया जो देवताओं को भी दुर्लभ हैं। वहाँ हमारा ऐसा मान-सम्मान हुआ। अमुक आदमी हमें देखकर ऐंठने लगा, हमने उसे ऐसा मुँहतोड़ उत्तर दिया, कि उसकी वाणी ही बंद हो गई, कुछ बोल ही न सका। अमुक धनी अपनी ठसक जताने लगे, अपने धनवैभव का प्रदर्शन करने लगे। मैंने स्पष्ट कह दिया—"आप धन्नासेठ होंगे तो अपने घर के होंगे जी। मुझे आपसे कुछ लेना तो है नहीं। आप मेरे सामने ये बढ़-चढ़ कर बातें न बघारें। मुझे आपसे कुछ ऋण तो लेना ही नहीं।

मेरी बात सुनकर उनका मुँह फक पड़ गया। तुम ही बताओ हम किसी से कम हैं।" बस, ऐसी ही कामिनी कांचन और कीर्ति की कथाएँ कहते हुए कालयापन करते हैं। इससे विपरीत जहाँ सज्जन-सन्त पुरुष परस्पर में मिलते हैं, तो परस्पर में देह सम्बन्धी न तो प्रश्न पूछते हैं और न विषय सम्बन्धी चर्चा ही करते हैं। ये एक दूसरे को देखकर "जय श्रीकृष्ण जय श्रीकृष्ण, जय जय श्रीसीताराम, जय जय श्रीराधेश्याम" कह कर लिपट जाते हैं और फिर भगवत् चर्चा आरम्भ कर देते हैं। जैसे सुन्दर सुगंधित पके आम को लोग मिठास से धीरे-धीरे चूसते हैं, जैसे सत्पति अपनी सती-साध्वी पतिपरायणा पत्नी से प्रेम-पूर्वक घुल-घुल कर एकान्त में तन्मय होकर बातें करता है, उसी प्रकार भक्त भी भगवत् कथा में तन्मय हो जाते हैं। उन्हें बाह्य-ज्ञान नहीं रहता। जैसे प्रेमियों को अपनी प्रेयसी की प्रिय वार्ताओं के सुनने से तृप्ति नहीं होती, किन्तु और अधिकाधिक उत्सुकता बढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार भक्त बार-बार सुनने पर भगवत् चरित्रों से अघाते नहीं। बातें वे ही गिनी चुनी हैं। वही राम-रावण की कथा, ध्रुव, प्रह्लाद विभीषण की बातें, गज को ग्राह से बचाया, विदुर के घर साग खाया, सुग्रीव को राज्य दिया, विभीषण को राजतिलक किया, पूतना को मारा कंस को पछारा, ये ही सब बातें हैं। प्यार की बातें श्रीकृष्ण और गोपियों की कितनी शृंगारमयी बातें हैं। यदि इनमें से श्रीकृष्ण और गोपियों के नाम निकाल कर किन्हीं साधारण पुरुषों के नाम रख दिये जायँ और फिर वे शृंगार से भरी बातें कही जायँ, तो किसी स्त्री पुरुष का मन वश में रह सकता है? कोई भी अपने चित्त को स्थिर रख सकता है? किन्तु नारद के आसन पर श्रीकृष्ण के आते ही

ये अत्यन्त शृङ्गारमयी वार्तायें करुणारस से परिपूर्ण हो जाती हैं। भक्तों के मन में इनके श्रवण से विषय-विकार की बात तो अलग रही, करुणा का स्रोत बहने लगता है, हृदय गद्‌गद् हो जाता है। आँखों से अश्रुओं का प्रवाह आरम्भ हो जाता है और हृदय फटने लगता है! उस दशा का अनुभव ये इस हाड़-मांस के शरीर में ही सुख समझने वाले विष्ठा मूत्र से सने, मांस और चर्म के बने, रक्त तथा अश्लील वस्तुओं से भरे अपवित्र स्थानों में ही आनन्द को मानने वाले विषयी पुरुष कैसे कर सकते हैं? इसलिए सूतजी! हमें तो आप भगवान् और भक्तों के ही चरित्र सुनावें। इन अन्य विषय सम्बन्धी वार्तों से हमें क्या लेना। इनके कहने और सुनने में जो समय बीतता है, वह मानों अपनी आयु का अमूल्य समय व्यर्थ ही नष्ट हुआ।

आप एक शङ्का और भी कर सकते हैं, कि आप प्रत्येक बात को तो विस्तार से पूछते हैं, किन्तु मनुष्य की आयु का क्या पता? कब मृत्युदेव आ धमकें और कब अपने पंजों में पकड़ कर चम्पत हो जाँय! इसलिये मृत्यु से डरते हुए आप प्रश्न करें। काल के सम्बन्ध में शङ्कित होकर कथा श्रवण करें।" सो, सूतजी! आप इसकी चिन्ता न करें। मृत्यु को तो हम लोगों ने अपने तप के प्रभाव से वश में कर रखा है। हम लोग तो मरने वाले हैं ही नहीं और भी यहाँ आकर जो कोई कथा सुनेगा और उसकी भी तब तक मृत्यु न होगी जब तक हमारा यह यज्ञ होता रहेगा।"

सूतजी बड़े आश्चर्य में पड़े, वे बोले—"महाराज यह आप कैसी बात कर रहे हैं, मृत्युदेव अपने काम को कैसे छोड़

सकते हैं। किसी को शील सङ्कोच न करने वाले काल
आपकी घात कैसे मान सकते हैं। वे तो आप अपने लोक
बैठे-बैठे प्राणियों के दिन गिनते रहते हैं। उन्हें आपके यज्ञ
क्या प्रयोजन ?"

सूतजी की बात सुनकर शौनकजी हँसे और बोले—सू
भगवत् कृपा के सम्मुख मृत्युदेव की कुछ नहीं चलती।
भगवान् के परम भक्त ध्रुवजी जब इस लोक का परित्याग
परलोक पधारने लगे, तो मृत्युदेव डरते-डरते उनके
आये और कहने लगे—"हे मनुवंशावतंस राजन्!
मनुष्य शरीर धारण किया है, अतः इस लोक को त्याग
नियमानुसार मुझे ग्रहण करके—इस शरीर का यहीं
करके—तब परलोक पधारें।" मृत्यु के ऐसे वचन सुनकर
शिरोमणि ध्रुवजी हँसे और बोले—"अच्छी बात है बैठो,
तुमसे भी काम लूँगा।" उनके ऐसे आश्वासन को सुन
काँपते हुए मृत्युदेव दूर बैठ गये। ध्रुवजी को लेने के
भगवान् का दिव्य विमान आया था, देवताओं के विमान पृ
का स्पर्श नहीं करते, अतः वह विमान अधर में ही स्थित थ
ध्रुवजी जब अपने सब कर्मों से निवृत्त होकर ध्रुव धाम
पधारने लगे तब उन्होंने मृत्युदेव को बुलाया और सिंहासन
नीचे बैठने की आज्ञा दी। मृत्युदेव डरते-डरते सिंहासन
समीप बैठ गये। ध्रुवजी ने आव गिना न ताव झट से
सिर पर पैर रखकर—उसे सीढ़ी बनाकर—दिव्य विमान
चढ़ गये और हँसते हुए बोले—"जाओ, भाग जाओ
भी मैंने सत्कार कर दिया।" सो, सूतजी! भगवत् भक्त,
भक्ति के प्रभाव से श्रीकृष्ण-कथा रूपी अमृत के पान
मृत्यु के सिर पर भी पैर जमा देते हैं। वैसे अन्य

के लिये मृत्यु बड़ी ही दुस्तर है। हमने यज्ञ के समय सोचा, कि यदि मृत्यु ने हमारे कार्य में विघ्न किया तो हमारा सहस्र-वत्सर का यह यज्ञ सम्पूर्ण ही न होगा, अतः हमने मृत्यु को बुलाकर उससे कहा—"आप को हमारे कार्य में भी कुछ हाथ बटाना चाहिये। यज्ञ का कोई कार्य आप भी करें।"

मृत्यु ने कहा—"महाराज, जो आप की आज्ञा हो सो मैं करूँ ?"

हमने सोचा—"और अब इनसे क्या काम लेंगे, इनसे सभी प्राणी तो डरते हैं, न जाने क्या गड़बड़ घुटाला कर डालें। इसलिये हमने कहा—"मृत्युदेव ! आप हमारे यज्ञ में शामित्र कर्म—यज्ञ सम्बन्धी बलिकर्म ही करें। उस कर्म के अतिरिक्त यहाँ जो भी आवें उनमें से किसी को यज्ञ समाप्ति तक न मारें।" मृत्युदेव ने इसे स्वीकार किया और वे यहीं रह कर इसी काम को करते हैं। दूसरे किसी प्राणी से वे बोलते भी नहीं। इसीलिये आप मृत्यु की शङ्का को छोड़ कर निर्भय होकर विस्तार के साथ श्रीकृष्ण-कथा का कथन करें। श्रोता वक्ता किसी को भी काल का भय न करना चाहिये, जब तक यज्ञ हो रहा है काल यहाँ रहेंगे और जब तक वे रहेंगे, तब तक कोई मर नहीं सकता। अतः आप बड़े प्रेम से समझा-समझा कर कथा कहें। हम सब सावधानी के साथ एक चित्त होकर उसका श्रवण करेंगे। इसी प्रकार यह काल बीत जायगा। बुद्धिमान् पुरुषों के समय का यही सर्वश्रेष्ठ सुन्दर सदुपयोग है वे अपने काल

को कृष्ण कथा, कीर्तन सत्सङ्ग में ही बिताते हैं। जो मूर्ख हैं, मन्द बुद्धि हैं, पूर्वकृत पाप कर्मों के द्वारा जिनकी श्रीकृष्ण कथा में रुचि ही नहीं होती, जिन्हें सन्तों का सङ्ग सुहाता ही नहीं, जो कथा, कीर्तन में जाते ही नहीं और यदि किसी के आग्रह से चले जाते हैं तो वहाँ ऊँघते हैं, जम्हाई लेते हैं, भक्तों के छिद्रान्वेषण करते हैं। उनके कार्यों की आलोचना अथवा निन्दा करते हैं, उन खलों का समय ऐसी व्यर्थ की बातों में ही बीत जाता है। दिन भर तो वे दूसरों की निंदा, परचर्चा विषय भोगों के जुटाने में ही लगे रहते हैं। रात्रि में या तो तान दुपट्टा सोते हैं या विषय प्रसङ्गों में निमग्न हो जाते हैं। उनके लिये परमात्मा परलोक कुछ भी नहीं। पेट भर लेना ही उनका परम पुरुषार्थ है, संसारी विषयों की प्राप्ति ही उनके लिए सर्वश्रेष्ठ आनन्द है।

यहाँ हमारी सभा में ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है। ऐसे पुरुषों का यहाँ मन ही कैसे लग सकता है। यहाँ सभी तो सत्सङ्ग और शुभ कर्मों में लगे रहते हैं। उन्हें परचर्चा और परनिन्दा के लिये समय ही नहीं। दुष्ट पुरुष एक दो दिन बिना खाये रह सकते हैं, किन्तु जब तक उनकी जिह्वा इधर उधर की १० बुरी बातें न बक ले, किन्हीं भले पुरुषों की झूठी सच्ची निन्दा न कर ले तब तक उन्हें चैन ही नहीं पड़ता। परनिन्दा, परचर्चा यह भी एक बड़ा भयंकर व्यसन है, जैसे अफीम खाने वाला अफीम के बिना, मद्य पीने वाला मद्य के

बिना नहीं रह सकता उसी प्रकार निन्दक निन्दा किये बिना व्याकुल बना रहेगा। ऐसे लोगों का यहाँ निर्वाह कहाँ? इसी लिए आप हम सब सुनने की इच्छा वाले पुरुषों को भगवत् भक्त महाराज परीक्षित् का चरित्र विस्तार के साथ सुनावें।" शौनकजी के ऐसा कहने पर सूतजी प्रसन्नता के साथ आगे का वृत्तान्त कहने को उद्यत हुए।

छप्पय

सुन्यो परीक्षित् राज्य माहिँ कलियुग घुसि आयो।
धावा बोल्यो तुरत सुनत कलियुग घबरायो॥
पूछें शौनक-सूत! करयो कलि कैसे वश में।
नृपति वेश में शूद्र गऊ ताडत किहि थल में॥
राजवेष धारी वृषल, वृषभ गऊ ताडन करत।
बल पूर्वक कस वश करयो, कस नृप सब के दुख हरत॥

महाराज परीक्षित् की दिग्विजय

(६७)

यदा परीक्षित् कुरुजांगलेऽशृणोत्
कलिं प्रविष्टं निज चक्रवर्तिते ।
निशम्य वार्तामनतिप्रियां ततः,
शरासनं संयुगशौण्डिराददे ॥१॥
(श्री भा० १ स्क० १६ अ० १० श्लो०)

छप्पय

कुरु जांगल महँ बसत, युद्ध अवसर नहिं आवें ।
धीर धनुर्धर नृपति, बिना रण हाथ खुजावें ॥
कलि प्रवेश सुनि कुपित, शीघ्र सब सैन सम्हारी ।
दशों दिशा कूँ विजय करन की करी तयारी ॥
जायँ जहाँ जहँ जनेश्वर, तहँ निज कुल कीरति सुनत ।
कहँ कहँ कृष्ण कृपा करी, सुनत होत अति मन मुदित ॥

जिस पुरुष को जिस वस्तु का स्वभावानुसार व्यसन हो जाता है, उसे उस वस्तु के बिना चैन नहीं पड़ता। वह उसके लिये अवसर खोजता रहता है। जैसे जिन्हें शास्त्रीयवार्

१ कुरु जांगल प्रदेशों में रहकर शासन करते हुए महाराज परीक्षित् ने जब यह बात सुनी कि मेरे द्वारा शासित प्रदेश में कलियुग

विवाद का व्यसन होता है, वे शास्त्रार्थ के लिये लालायित रहते हैं। मल्ल अच्छी कुश्ती की बाट जोहता रहता है। व्याख्याता भरी सभा में व्याख्यान देने के लिये उत्सुक रहता है, कलाकार अपनी कला के प्रदर्शन के लिये प्रयत्न करता है, नट अपनी कला दिखाने को व्यग्र रहता है। जिनके बाल सुन्दर होते हैं, वे उन्हें भाँति-भाँति से टेढ़े मेढ़े बनाकर इधर-उधर घुमाते रहते हैं, कि कोई इन्हें देखकर हमारी प्रशंसा करे। इसी प्रकार शूरवीर भी संग्राम की प्रतीक्षा करता रहता है कि रण में अपना बल, पुरुषार्थ और कौशल दिखा सके, शत्रु के दाँत खट्टे कर दें।

महाराज परीक्षित् प्रसिद्ध शूरवीर और प्रख्यात धनुर्धर थे, किन्तु उन्हें युद्ध का अवसर ही प्राप्त नहीं होता था। उनके पूर्वज पांडवों के प्रताप की अब तक इतनी धाक थी, कि कोई राजा उनके विरुद्ध सिर उठाता ही नहीं था। सभी ने स्वेच्छा से अधीनता स्वीकार कर रखी थी। उस समय राज्य करना एक धर्म समझा जाता था। साम्राज्य बढ़ाने के इच्छा से अथवा व्यापार करने के लोभ से किसी देश पर कोई धर्मात्मा राजा चढ़ाई नहीं करता था। जो राजा दिग्विजय आदि करते थे, वे कुछ दूसरे राजाओं की स्वतंत्रता अपहरण की इच्छा से नहीं करते थे। केवल अपना प्रभाव जमाने और कीर्ति बढ़ाने की ही चढ़ाई, लड़ाई हुआ करती थी। जहाँ दूसरे राजा ने उनका लोहा मान लिया बस युद्ध समाप्त, न फिर कोई दंड था न कर। दोनों अपने अपने कार्यों को पूर्ववत करने लगते

ने प्रवेश किया है, तो इस अप्रिय बात को सुनकर समर में शत्रुओं को परास्त करने वाले समरशूर महाराज ने अपना धनुष उठाया।

थे। जो हमारी बराबरी करना चाहता ही नहीं, उससे बिना बात लड़ना झगड़ना—यह भले राजाओं का कार्य नहीं था, धर्मात्मा राजा ऐसे युद्धों का अनुमोदन नहीं करते थे।

एक दिन महाराज परीक्षित् ने किसी से सुना कि उनके राज्य में कलियुग घुस आया है। तब तो उन्हें चिन्ता हुई और वे उसका दमन करने के लिये उद्यत हुए। उन्हें हर्ष भी हुआ और चिन्ता भी। हर्ष तो इस बात से हुआ, कि चलो बहुत दिनों के पश्चात् एक युद्ध का अवसर तो आया और दुःख इस बात का हुआ, कि इतना धर्म का ध्यान रखते हुए भी अधर्म का मित्र कलियुग मेरे राज में घुस किस प्रकार आया? वे सोचने लगे—कलियुग का निग्रह कैसे करूँ? वह तो गुप्त रीति के छिप कर आता है, यदि वह शरीर धारण करके आवे तो उससे युद्ध भी करूँ। फिर भी मेरे धर्म का ऐसा प्रभाव है कि बिना मेरी अनुमति के कलियुग आ नहीं सकता। प्रजा में जब कोई छिद्र कलियुग को दिखा देगा तो उसी के द्वारा वह प्रवेश कर सकता है। इसलिये सेना सजाकर उसके आगे-आगे धनुषबाण धारण करके स्वयं चलूँगा। इस प्रकार सभी दिशाओं में मैं भ्रमण करूँगा। इससे दिग्विजय भी हो जायगी और कलियुग किस छिद्र से प्रवेश कर रहा है, इस बात का भी पता लग जायगा। यही सब सोचकर महाराज ने हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल इस प्रकार चतुरंगिणी सेना को सजाने के लिये सेनापति को आज्ञा दी महाराज की आज्ञा पाते ही सभी सैनिक प्रसन्नता के कारण उन्मत्त से हो गये। बहुत दिनों से राजधानी में बैठे-बैठे वे ऊब गये थे। सैनिकों को तो मार-धाड़, लूट-पाट, लड़ाई-झगड़े ही प्रिय हैं। किसी को मार दिया, किसी नगर

को लूट लिया, किसी में आग लगा दी, इसी में उन्हें आनन्द आता है। शिविर में बैठे-बैठे उनका मन प्रसन्न नहीं रहता। महाराज की आज्ञा पाकर वे सभी बड़ी शीघ्रता के साथ सुसज्जित हो गये। सेना को सजाकर नगर की रक्षा का प्रबन्ध करके, अपने विश्वासपात्र, बुद्धिमान् और बूढ़े मंत्रियों को लेकर महाराज सेना के साथ दिग्विजय के निमित्त निकल पड़े। वे भद्राश्व, केतुमाल, भारत, उत्तर कुरु तथा किंपुरुष आदि देशों में दिग्विजय करते हुए गये। महाराज जिस-जिस देश में भी जाते, वहीं के राजे महाराजे भाँति-भाँति की भेटें लेकर महाराज के आगे आकर उन्हें प्रणाम करते, उनके आगे भेंट रखते और अधीनता स्वीकार करते। महाराज भी उनके राज्य के, मंत्री, पुरोहित, युवराज, कोष, किला, सेना वाहन और प्रजाजनों के कुशल पूछते तथा भाँति-भाँति की धर्मचर्चा करके उनका आतिथ्य स्वीकार करके उनसे विदा लेते। इस प्रकार महाराज जहाँ भी जाते वहीं उनका भाँति-भाँति से स्वागत सत्कार होता। उनके स्वागत में परिषदें होतीं, जिनमें उनके पूर्वजों की कीर्ति गाई जाती कथा-वाचक पांडवों से सम्बन्ध रखने वाली कथाएँ कहते, उनकी भगवत्भक्ति का वर्णन करते। भगवान् वासुदेव ने पांडवों की कैसे-कैसे संकटों से रक्षा की, उनके कैसे-कैसे काज सम्हाले, गर्भ में अश्वत्थामा के छोड़े शस्त्र से महाराज परीक्षित् की कैसे रक्षा की, इन बातों को सुनकर भगवत् भक्त महाराज बड़े प्रसन्न होते। कहीं-कहीं उनके शुभागमन के उपलक्ष में नटनर्तक नाटक करते, उनमें वे ही श्रीकृष्ण और पांडवों के सम्बन्ध के अभिनय दिखाते जिन्हें देखकर महाराज बड़े प्रसन्न होते। श्रीकृष्ण की मेरे पूर्वजों के ऊपर कितनी कृपा थी

इसका स्मरण करके महाराज गद्गद् हो जाते और भरी सभा में आँसू बहाने लगते। सूत, मागध, वन्दी और कथा कहने वालों ने जब देखा, कि महाराज श्रीकृष्ण-कथाओं के श्रवण से अत्यन्त आनन्दित होते हैं, तब वे अन्य सभी वार्ताओं को छोड़कर महाराज के सामने उन्हीं कथाओं को विविध प्रकार से उपमा और अलंकारों से अलंकृत करके सुनाते जिससे महाराज की प्रसन्नता का ठिकाना न रहता। जो भी लोग श्रीकृष्ण-कथा कहते, उन्हें महाराज अत्यन्त स्नेह के साथ कातर दृष्टि से बार-बार निहारते, उनके कथन की प्रशंसा करते और उन्हें मणि-माणिक्य, धन-रत्न तथा बहुमूल्य वस्त्राभूषण पारितोषिक में देते। वे सब भी उन सब वस्तुओं को ग्रहण करके महाराज की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए चले जाते। इस प्रकार महाराज की यात्रा का अधिकांश समय श्रीकृष्ण कथा श्रवण में ही व्यतीत होता।

वृद्धे-वृद्धे ब्राह्मणों को जब यह बात मालूम हुई, कि महाराज परीक्षित् श्रीकृष्ण-कथा के बड़े रसिक हैं, तब तो वे उनके समीप आते और आकर कहते—"महाराज, हमने तो पांडवों के साथ श्यामसुन्दर को देखा था। हमारा वे बड़ा सत्कार करते थे। हम कई यज्ञों में सम्मिलित हुए। वहाँ भगवान् वासुदेव ने अपने हाथों हमारी पूजा की थी।"

इस बात को सुनकर महाराज बड़े प्रसन्न होते और बार-बार पूछते—"आपने भगवान् के कैसे दर्शन किये? हमने सुना है कि कभी वे चतुर्भुज रूप धारण कर लेते थे, कभी द्विभुज। आपने किस रूप में उनके दर्शन किये थे?"

ब्राह्मण कहते—"महाराज! हमने भगवान् के चतुर्भुज रूप के भी दर्शन किये और द्विभुज रूप के भी। महाभारत

युद्ध में भी हम पांडवों को आशीर्वाद देने गये थे। वहाँ हमने स्वयं श्यामसुन्दर को चतुर्भुज रूप में आपके पितामह अर्जुन का रथ हाँकते हुए देखा था।"

अत्यन्त ही उत्सुकता से महाराज पूछने लगे—"भगवान् कैसे रथ हाँकते थे? हाथ में तोत्र (कोड़ा) भी रखते थे, अकेले ही रहते थे या कोई दूसरा सारथि भी रहता था? मेरे पितामह ऊपर बैठते होंगे, भगवान् घोड़ों की रासों को थामते होंगे। अहा! कैसी भक्तवत्सलता है उन सर्वेश्वर की।"

ब्राह्मण कहते—'महाराज भगवान् वासुदेव अकेले ही रथ हाँकते थे। यहीं नहीं, वे स्वयं अपने हाथों घोड़ों की मालिश भी करते थे। वे उनकी रास पकड़ कर टहलाते भी थे। सूत के जितने काम होते हैं, वे सब पांडवों के स्नेहवश श्यामसुन्दर स्वयं करते थे।"

इतने में दूसरा ब्राह्मण कहता—"राजन्! सारथि का काम तो अलग रहा, मैंने उन्हें आपके बड़े पितामह धर्मराज युधिष्ठिर के पीछे-पीछे हाथ जोड़े हुए सेवकों की भाँति चलते देखा था। महाराज जब सिंहासन पर बैठते तो भगवान् उनके नीचे आसन पर विराजते। धर्मराज कोई बात पूछते, तो वे उसका खड़े होकर शिष्टाचार से उत्तर देते।"

इतना सुनते ही महाराज परीक्षित् के नेत्रों से अश्रु बहने लगते और वे कहते—"मेरे पितामह ही धन्य हैं, जिनके ऊपर श्यामसुन्दर का इतना अधिक अनुग्रह था। तभी तो मेरे पितामह भगवान् की ही भाँति लोकवन्द्य और प्रातःस्मरणीय बन गये। एक मैं ही ऐसा अभागा हूँ, कि जिसे छोड़ कर सभी चले गये।"

इस पर कोई दूसरा बूढ़ा ब्राह्मण कहता—"महाराज! आप ऐसी बातें क्यों कह रहे हैं? आपके बराबर भाग्यशाली संसार में कौन होगा? आप तो परम भागवत् हैं। किसी को तो हजारों, लाखों, करोड़ों वर्ष अनेकों जन्मों तक तपस्या करने से तब कहीं जाकर भगवान के दर्शन होते हैं, आपको तो अनायास ही—माता के पेट में ही—भगवान् के दर्शन हो गए। आपकी तो उन्होंने, आपके साथ गर्भ में रहकर रक्षा की। उसी कृपा का ही तो यह फल है, कि आपको श्रीकृष्ण-कथा श्रवण में ऐसी रुचि है। आपके पितामहों के भाग्य के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। महाराज! जिस समय धर्मराज के दूत बनकर भगवान् हस्तिनापुर में पधारे थे तब मैं वहीं था। बड़े-बड़े ऋषि मुनि, देवर्षि, महर्षि, भगवान् के उस संवाद को सुनने आये थे। भरी सभा में भगवान् ने बड़े गर्व के सहित मेघ गंभीर वाणी में धृतराष्ट्र से कहा—"मैं धर्मराज का दूत बन कर आया हूँ। आपसे भी मेरा सम्बन्ध है, अतः मैं आपके हित की बात कहता हूँ। दुर्योधन ने बीच में ही भगवान् की बात काटकर कहा—'यदि आप हमारे सम्बन्धी हैं, तो आपने हमारा आतिथ्य-सत्कार ग्रहण क्यों नहीं किया? आप विदुर के घर भोजन करने क्यों चले गये?'"

"उस समय निर्भय होकर भरी सभा में भगवान् बोले—'दुर्योधन! देखो, भोजन या तो प्रेम से किया जाता है, या विपत्ति पड़ने पर। मेरे ऊपर कोई विपत्ति तो है नहीं जो मैं

तुम्हारे घर भोजन करूँ। प्रेम तुम मुझसे करते नहीं। तुम पांडवों का पैतृक राज्य नहीं देते, उनसे शत्रुता रखते हो। जो पांडव का शत्रु वह मेरा भी शत्रु है, अतः शत्रु के घर भोजन करना नीति के विरुद्ध है।'

"महाराज! भरी सभा में सभी के सामने ऐसा दो टूँक स्पष्ट उत्तर सुनकर दुर्योधन का मुँह फक पड़ गया। फिर उसने चूँ भी नहीं की। उसने अपने साथियों से ऐसी भी मंत्रणा की, कि पांडवों के बल ये श्रीकृष्ण ही हैं। इन्हें बाँध लेने से पांडव अपने आप ही निर्बल बन जायँगे, फिर उन्हें राज्य माँगने का साहस ही न होगा। किन्तु हे कुरुकुलकेतु राजन्! उन जगदीश्वर को कौन बाँध सकता है? संसार उनके संकेत से नाच रहा है। उन्हीं की प्रेरणा से सभी प्राणी प्रारब्ध के बंधन में बँधे हुये हैं। उनको बाँधने का विचार करना हास्यास्पद ही था।"

महाराज परीक्षित् इन सब बातों को बड़े ध्यान से—सब कामकाज छोड़कर सुनते। एक ब्राह्मण ने कहा—"राजन्! एक बार मैं युद्ध के समय ही दुर्योधन के समीप गया। वहाँ से मेरी इच्छा धर्मराज युधिष्ठिर के दर्शन की हुई। हम ब्राह्मणों के लिये तो कहीं रोक-टोक थी ही नहीं। चाहें जिस सेना में चले जायँ चाहें जहाँ से दान-दक्षिणा ले आवें। राज्य के परिचित ब्राह्मणों के लिये तो दोनों सेना के द्वार खुले हुए थे। हाँ, जो अपरिचित ब्राह्मण जाते उनपर कड़ी दृष्टि रखी जाती थी, इस शङ्का से कि

ये कहीं शत्रु सेना के गुप्तचर न हों, हमारा भेद जाकर न बता दें। मुझे तो कौरव-पांडव सभी जानते थे। इसीलिये मैं निर्भय होकर दोनों ओर जाता था। धर्मराज के पास कैसा भी पठित-अपठित मूर्ख विद्वान ब्राह्मण चला जाता, सभी का आदर-सत्कार करते। वे बड़े ही ब्राह्मण-भक्त थे। मुझे वहाँ रात्रि हो गयी धर्मराज ने वहीं मेरे रहने का प्रबन्ध कर दिया। राजन्! मैंने अपनी आँखों से देखा—पांडव तो सब अपने-अपने शिविरों में युद्ध के अनन्तर सुख से सो जाते थे, किन्तु श्यामसुन्दर जागते हुए धनुष-बाण लिये वीरासन से बैठकर उनका पहरा देते रहते थे। उन्हें रात्रि दिन यही चिंता बनी रहती थी, कि पांडवों का कोई अनिष्ट न होने पावे। इसीलिये दिन में तो रथ हाँकते थे और रात्रि में पहरा देते थे।"

यह बात सुनकर महाराज परीक्षित् रोने लगे और रोते रोते बोले—ब्राह्मणदेवता! आपने यह अद्भुत बात सुनाई सारथिपने की, दूत होने की, सभासद् बनने की, मन्त्री बनकर सम्मति देने की बातें तो मैंने भगवान् के सम्बन्ध की बहुत बार, अनेकों भाँति से सुनी हैं, किन्तु भगवान् रात्रि में पहरा भी देते थे—यह तो मैं आपके के ही मुख से ही सुन रहा हूँ। कृपा करके मुझे इसके सम्बन्ध में विस्तार से सुनाइये। मेरे पितामहों के शिविर में वे शस्त्र धारण करके कैसे पहरा देते थे? इस सम्बन्ध की और भी कोई अद्भुत घटना घटित हुई हो, तो उसे भी आप मुझे सुनावें।"

महाराज की उत्सुकता देखकर वे बूढ़े ब्राह्मण बोले— "राजन्! आपको मैं इस सम्बन्ध की एक अद्भुत घटना सुनाता हूँ, आप अपने सभी मंत्रियों के सहित इसे ध्यान-पूर्वक सुनें।"

इतना कहकर वह ब्राह्मण, भगवान् ने किस प्रकार शस्त्र धारण करके पांडवों का पहरा दिया, उसकी कथा कहने को उद्यत हुए।

छप्पय

कहैं विप्रवर आइ कृष्ण ने करी कृपा कस।
बने सारथी दूत, भृत्य घनश्याम दयावस॥
भक्तवश्य भगवान् दीनता तैं बँधि जावैं।
किन्तु करैं अभिमान ताहि यम सदन पठावैं॥
करैं कृपा करुणायतन, जीव क्षुद्रता नित करैं।
शरणागत के अघ अखिल, अखिलेश्वर छिन में हरैं॥

भगवान् पांडवों की रक्षा कैसे करते थे!

(६८)

सारथ्यपारपदसेवनसख्यदौत्य—
वीरासनानुगमनस्तवनप्रणामान् ।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत् प्रणतिं च विष्णो—
र्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविन्दे ॥❀
(श्रीभा० १ स्क० १६ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

बोले ब्राह्मण वृद्ध—युद्ध की बात बताऊँ ।
राजन् ! सुनिये कथा सरस शुभ सुखद सुनाऊँ ॥
करी प्रतिज्ञा भीष्म अवनि पांडव बिनु करिहौं ।
सब शङ्का-संताप सुयोधन के अब हरिहौं ॥
सुनत हँसे हरि दयामय, लै कृष्णा कौतुक कियो ।
'हो सौभाग्यवती सती' भूलि वृद्ध ने वर दियो ॥

आनन्द कहीं बाहर से लाना नहीं पड़ता। विषाद किसी वस्तु से निकल कर हमारे हृदय में प्रवेश नहीं करता। सुख दुःख का स्रोत तो हृदय में ही है। अज्ञानवश मनुष्य बाह्य

❀ पांडवों में अत्यन्त अनुरक्त हुए श्यामसुन्दर ने कभी उनका सारथ्य किया, कभी सभासद बन कर व्यवहार किया, कभी सेवक बने

वस्तुओं में सुख दुःख का आरोप करके उनकी निन्दा स्तुति करता है। यदि बाह्य वस्तुओं से ही सुख हो, तो वे सब को समान सुख देने वाली होनी चाहिये, किन्तु ऐसा संसार में दिखाई नहीं देता। जिस वस्तु से एक को सुख होता है, उसी से दूसरों को दुखी होते देखा गया है। एक वस्तु किसी को रुचिकर है, तो वही दूसरे को अरुचिकर है। एक बात सुनकर कोई आनन्द से नृत्य करने लगता है, तो दूसरे पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं होता, इन सब बातों से प्रतीत होता है, कि पूर्व जन्मों के संस्कारों के वशीभूत होकर, हमारे मन ने जिसे अनुकूल मान लिया है, उसके देखने, सुनने, छूने तथा समीप रखने में हम सुख का अनुभव करते हैं और जिन्हें प्रतिकूल समझ लिया है, उनसे हम बचना चाहते हैं, उनके सम्बन्ध में प्रशंसित वाक्य सुनने से हमें दुःख होता है। अतः सुख दुःख बाह्य वस्तुओं में न मानकर उनका बीज अन्तःकरण में ही समझना चाहिये।

जो विषयी पुरुष हैं, पूर्व जन्मों के संस्कारों से जिनकी प्रवृत्ति सदा पाप-कर्मों के करने में ही होती है, उन्हें कृष्ण-कथा अच्छी नहीं लगती। जहाँ कहीं भक्ति, भक्त और भगवान्

कभी मित्र का सा नेह निबाहा और कभी दूत बनकर उनके कार्य करने गये। इतना ही नहीं, वे समय पड़ने पर रात्रि भर जाग-जाग कर वीरासन से बैठ कर पहरा भी देते थे। कभी धर्मराज का अनुगमन करते, कभी उनकी स्तुति करते। कभी स्वयं पहिले उठकर पैर छूते, कभी अन्य राजाओं से प्रणाम करवाते। इन सब चरित्रों को जब महाराज परीक्षित् सुनते, तो उनकी श्रीकृष्ण-चरणों में और भी अधिक भक्ति होती थी।

का प्रसङ्ग आया, कि वे नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं और कहने लगते हैं—"अजी, यह आपने क्या बेसुरा राग अलापना आरम्भ कर दिया ? कोई राग-रङ्ग की बात होने दो। राम-राम चक्कर चिल्लाने को तो ये बेकार भगत ही बहुत हैं।" किन्तु इसके विपरीत भक्तों को इन संसारी राग-रङ्गों की बातों से बड़ी घृणा है। वे अपने रसिकशिरोमणि रँगीले श्यामसुन्दर के ही रङ्ग में रँगे रहना चाहते हैं। उन्हें भगवन्-कथा को बार-बार सुनने पर भी तृप्ति नहीं होती। वे भगवत् चरित सुनने को सदा अतृप्त ही बने रहते हैं। जब अत्यन्त उत्सुकता के साथ महाराज परीक्षित ने उस वृद्ध ब्राह्मण से भगवान् की पहरेदारी करने का प्रश्न पूछा, तो वे ब्राह्मण गद्गद् कंठ से कृष्ण-कृपा और उनकी भक्तवत्सलता का स्मरण करके कहने लगे।

ब्राह्मण बोले—"राजन् ! भगवान् को वीरासन से पांडवों के शिविर की रक्षा करते, धनुष-बाण धारण करके पहरा देते मैंने स्वयं देखा था। वे पांडवों की रक्षा के लिये उसी प्रकार व्यग्र रहते थे जैसे शरीर की रक्षा के लिये हाथ व्यग्र रहते हैं। शरीर के किसी भी अङ्ग में तनिक भी खुजली हो, बिना कहे अनायास ही हाथ वहाँ पहुँच जाता है और खुजाकर वहाँ का दुःख दूर करता है। श्रीकृष्ण को सदा यह चिन्ता रहती, कि कहीं सोते हुए पांडवों पर कोई दुष्ट प्रहार न कर बैठे। उन्हें सेना के पहरे से संतोष नहीं होता था, पांडवों के सो जाने के अनन्तर वे स्वयं ही अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर बिना सोये पहरा देते रहते। उसी पहरेदारी के प्रसङ्ग में एक बड़ा अद्भुत इतिहास सुना जाता है। राजन् ! यह मैंने अपनी आँख से तो देखा नहीं, युद्ध के अनन्तर मैंने कथा कहते पार्थ

के मुख से सुना है, उसे मैं आपको सुनाता हूँ आप सावधान हो कर श्रवण करें।"

महाराज परीक्षित् बोले—"विप्रवर ! श्रीकृष्ण-कथा श्रवण करने में तो मैं सदा सावधान ही रहता हूँ, आप उस अद्भुत इतिहास को, जिस प्रकार आपने सुना है, उसी प्रकार अवश्य ही सुनाने की कृपा करें।"

वृद्ध ब्राह्मण बोले—"राजन् ! महाभारत युद्ध में आपके पितामह पांडवों की सेना के सेनापति तो धृष्टद्युम्न थे और कौरवों के सेनापति भीष्मपितामह थे। भीष्म पितामह यद्यपि बड़े परिश्रम से लड़ते थे, फिर भी कौरव पांडव दोनों के लिये समान ही थे। उनके हृदय में पांडवों के प्रति प्रेम भी था, अतः वे जान-बूझकर पांडवों पर प्रहार नहीं करते थे। उनकी आन्तरिक अभिलाषा यह थी, कि मेरे ही हाथों से मेरे वंश का सर्वनाश न हो। जिन पांडवों को मैंने गोद में बिठाकर खिलाया है, अपने सगे पुत्रों से भी बढ़कर स्नेह करके पाला पोसा है, उनकी हत्यासे मेरे हाथ रक्तरञ्जित न हों। दुर्योधन यह सब समझता था, किन्तु वह वृद्ध के जीवित रहते दूसरे को सेनापति भी नहीं बना सकता था, अतः वह इस बात से बहुत चिन्तित हुआ। उसने सोचा—'जब मेरा सेनापति ही शत्रुओं के प्रति दया दिखाता है तब तो मेरी विजय असम्भव ही है।' यही सब सोचकर वह पितामह के समीप गया। उनके पैर पकड़ कर उसने अपनी चिंता का कारण प्रकट किया।

"दुर्योधन बोला—पितामह ! आप हमारे कुल में सब से ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। यही सब सोचकर मैंने आपको अपनी ११ अक्षोहिणी सेना का सेनापति बनाया। अब इस सब का

जीवन आपके ही अधीन है। आप चाहें हमें बचा लें पहुँचा दें। इस बात को मैं क्या संसार जानता है, कि जब आप क्रुद्ध होकर हाथ में धनुष-बाण धारण कर लें, तो मनुष्य और प्राणियों की तो बात ही क्या, समस्त देवता, दानव, यक्ष, राक्षस असुर मिलकर भी आपको नहीं जीत सकते। आप यदि चाहें तो केवल एक ही बाण में पांडवों की समस्त सेना का संहार कर सकते हैं। किन्तु मुझे कहने में लज्जा लगती है, दुःख भी होता है, सङ्कोच भी हो रहा है, फिर भी कहे बिना मेरा काम भी नहीं चलता। आप पक्षपात कर रहे हैं। आप सेनापति होकर भी शत्रुओं के प्रति दया दिखा रहे हैं। आप मन लगाकर युद्ध नहीं करते। आप पांडवों के मारने में हिचकते हैं। प्रभो! ऐसे मेरा कैसे काम चलेगा? इस प्रकार मेरी विजय कैसे होगी? यदि आपको नहीं लड़ना था, तो आप मुझसे पहिले ही कह देते। मेरे तो एकमात्र आधार आप ही हैं। आपके बल भरोसे ही पर मैंने युद्ध करने का साहस किया है।"

दुर्योधन की ऐसी दीनतापूर्ण और अपनी प्रशंसा से भरी बातें सुनकर पितामह का रक्त उबलने लगा। उन्हें अपने सेनापति के पद का गर्व हो उठा और उसी गर्व में उन्होंने दुर्योधन को प्रसन्न करने के निमित्त प्रतिज्ञा की—'बेटा, दुर्योधन तुमने मुझे सेनापति बनाकर मेरा अधिक सम्मान किया और तुमने जो मेरी प्रशंसा की है, इससे मैं तुम पर और भी प्रसन्न हूँ। अच्छी बात है, कल तुम मेरी वीरता देखना। या तो संसार में कल पांडव ही न रहेंगे या मैं न रहूँगा। मैं निश्चय ही मोह छोड़कर कल अपने तीखे बाणों से पांडवों को मार डालूँगा। अब तुम शोक को छोड़ दो और

निश्चिन्त होकर विश्राम करो।' पितामह की ऐसी प्रतिज्ञा सुन कर दुर्योधन अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। उसने समझ लिया, कि पांडव तो मर गये, किन्तु महाराज! जिनके रक्षक नन्दनन्दन हैं, जिनके सिर पर श्याम सुन्दर हैं, जिनके रथ को भगवान् वासुदेव चला रहे हैं, उनका कौन बाल बांका कर सकता है? उन्हें कौन प्रतिज्ञा करके मार सकता है? किन्तु दुर्योधन तो यही समझे बैठा था। उसे तो चराचर के स्वामी उन देवकीनन्दन के प्रभाव का पता ही नहीं था। वह रात्रि भर अपनी विजय के सुखद स्वप्न देखता रहा।

"इधर बात की बात में वायु की भाँति यह समाचार दोनों सेनाओं में फैल गया। पांडव पक्ष के सभी वीर घबरा गये। वे पहले से ही भीष्म की बाण-वर्षा से सन्त्रस्त हो रहे थे। अब जब पांडवों के मारने की बात सुनी, तो सब के छक्के छूट गये। केवल पाँचों पांडवों ही निश्चिन्त थे। उन्हें न शोक था, न भय। उन्होंने तो अपना सर्वस्व नन्दनन्दन के चरणारविन्दों में समर्पित कर दिया था। उन्होंने तो अपने रथ की बागडोर वासुदेव के हाथ में दे दी थी, वे उसे जिधर चाहें घुमावें जहाँ चाहें ले जायँ। उन्होंने तो अपना कर्तृत्व कृष्ण के करकमलों में सौंप दिया था। यदि विजय होगी, तो विश्वेश्वर की ही होगी। यदि पराजय होगी, तो उसके भोक्ता वे ही होंगे। हम तो उनके यन्त्र हैं, जैसे चाहें घुमावें, जहाँ चाहें बैठावें। यही सब सोच विचार कर पांडव तो निश्चिन्त होकर तान दुपट्टा सो गये, किन्तु कृष्ण को नींद कहाँ? वे तो सदा भक्तों की रक्षा में व्यग्र बने रहते हैं। वे अत्यन्त ही दुःख की मुद्रा बनाते हुए द्रौपदी के समीप पहुँचे और अधीरता के साथ बोले—"पांचाली! ले तेरा सुहाग लुट गया!"

"भगवान् के श्रीमुख से इन हृदय को हिला देनेवाले वाक्यों को सुनकर द्रौपदी अत्यन्त ही व्याकुल हो उठीं, उन्होंने रोते रोते कहा—'हे अशरणशरण! आपके रहते हुए भी मेरा सुहाग लुट जायगा—इसकी तो मुझे स्वप्न में भी आशा नहीं थी। मैं तो आपकी कृपा के ही भरोसे निःश्चिन्त हुई बैठी थी। अब जब आप ही ऐसी अधीरता की बातें कर रहे हैं, तब तो मेरा जीवन ही व्यर्थ है। प्रभो! बात क्या है?"

"भगवान् अत्यन्त चिन्ता प्रकट करते हुए बोले—'देवि! क्या बताऊँ, भीष्मपितामह ने प्रतिज्ञा की है कि कल या तो मैं पृथ्वी से पांडवों को परलोक पठा दूँगा, या स्वयं ही न रहूँगा। उस बूढ़े के बल को मैं जानता हूँ। वह जो करना चाहेगा, कर डालेगा। तीनों लोकों में कोई भी उसका सामना नहीं कर सकता।'

द्रौपदी ने कातर वाणी से कहा—'हे दीनानाथ! इसका कोई उपाय कीजिये, किसी प्रकार मेरे पाँचों पतियों को बचाइये। जैसे हो तैसे उन्हें जीवन दान दीजिये।' भगवान् विवशता के स्वर में बोले—'देवि! और कोई ऐसी प्रतिज्ञा करता, तो मैं उसका कुछ उपाय भी कर सकता था, किन्तु इस बूढ़े सिंह के सामने मेरा कुछ वश नहीं चलता। तीनों लोकों में ऐसा वीर पैदा ही नहीं हुआ जो उस कुपित नाहर को झड़प सह सके। हाँ यदि शस्त्र-ग्रहण न करने की मैंने प्रतिज्ञा न की होती, तो उस वृद्ध व्याघ्र से दो-दो हाथ मैं कर सकता था, किन्तु मैं तो प्रतिज्ञा करके अपने हाथ कटा चुका, अब तो कोई उपाय ही नहीं।'

निराशा के स्वर में कृष्णा बोलीं—'तो अब मैं अपने जीवन की आशा छोड़ दूँ। मैं अपनी आँखों से इस वीभत्स कांड को

देखना नहीं चाहती। सौभाग्यवती सती साध्वी स्त्री अपनी आँखों के सामने पति को परलोक प्रयाण करते नहीं देखना चाहती। प्रभो! मैं अपने पतियों से पूर्व ही अग्नि में जल मर जाना चाहती हूँ। मेरे लिये अब अग्नि के सिवाय दूसरा कोई आश्रय नहीं। एकमात्र आपही मेरे आश्रय थे, सो आप ऐसी निराशापूर्ण बातें कर रहे हैं।

'भगवान् बोले—'जो बात सत्य थी, वह मैंने तुमसे कह दी। अब जो तुम्हें दिखे सो करो। इतना कहकर भगवान् चले गये। पांडव सो रहे थे किन्तु द्रौपदी के आँखों में नींद कहाँ उसका तो विश्व विलीन हो चुका था। बहुत सोच समझ कर उसने अग्नि में जलकर मर जाने का ही निश्चय किया। अपने निश्चय को कार्य रूपमें परिणित करने के निमित्त वह अपने आसन से उठी और द्वार पर आई। द्वार पर वह क्या देखती है, कि हाथ में धनुषबाण लिये वीरासन से भगवान् श्यामसुन्दर बैठे पहरा दे रहे हैं। द्रौपदी ने अपना समस्त अङ्ग एक बड़े वस्त्र से ढक लिया था। वह धीरे-धीरे दबे पैरों जा रही थी। हलकी सी पैंछर सुनकर श्यामसुन्दर ने पूछा—कौन है ? द्रौपदी कुछ भी न बोली। तब तो सावधान पहरे वाले को सन्देह हुआ—कोई शत्रु का आदमी है। डाँट कार वह बोला—'कौन जा रहा है ? खड़ा हो !' द्रौपदी ने डरकर रोकर कहा—'कोई दुखिया अपने दुःख से असहाय होकर कहीं जा रहा होगा। उसे क्यों रोक रहे हो ? बड़े पहरेदार बने हो ! तुम रक्षा करने में [समर्थ हो नहीं तो यह पहरेदार का वेष व्यर्थ में क्यों बना रक्खा है ?'

"राजन् ! आपको पितामही के ऐसे कोपयुक्त स्नेह से सने वचन सुनकर और उनकी वाणी पहिचान कर भगवान्

बोले—'कौन, द्रौपदी ! तुम कहाँ जा रही हो ? तुमने यह कैसा विचित्र वेष बना रखा है ?

"द्रौपदी ने उसी दृढ़ता के स्वर में कहा—जा रही हूँ अपना भाग्य निर्णय करने, अब तक मैं श्रीकृष्ण को ही अपना आश्रय और सहायक समझती थी, जब उन्होंने ही हमें आश्रय विहीन बना दिया, तो चराचर जगत् में व्याप्त अग्निदेव ही मेरे एक मात्र आश्रय हैं, उन्हीं के शरण में जा रही हूँ।'

"भगवान् भयभीत से होकर बोले—'क्या तुमने सचमुच अग्नि में प्रवेश होने का निश्चय कर लिया है ? अभी कल तो होने दो, पता नहीं कल क्या होता है ?'

द्रौपदी ने कहा—'बीती कल, आज और आगामी कल सबका कर्ता, धर्ता, हर्ता, विधाता जो कह रहा है, जो उसने निश्चय कर लिया है, वही होगा। उसे अन्यथा करने की सामर्थ्य किसमें है ? निर्णय तो हुआ ही हुआ है। मैं इस घटना को अपनी आँखों देखना नहीं चाहती। इसके पूर्व ही मैं परलोक प्रयाण करना चाहती हूँ। आगे जाकर मैं अपने पतियों का परलोक में स्वागत करूँगी। आप यदि मेरा अन्तिम एक उपकार और कर दें, तो मैं अपने कार्य में सफल हो सकूँ।'

"भगवान् बोले—'देवि ! तुम जो भी करने को कहोगी और वह मेरी शक्ति के बाहर यदि न होगा, तो मैं अवश्य करूँगा।

द्रौपदी ने बिलखते हुए कहा—'प्रभो ! आपकी शक्ति के बाहर तो संसार में कुछ है ही नहीं। अच्छी बात है, आप मेरे लिए एक चिता बना देने का प्रबन्ध कर दें।'

"भगवान् बोले—हॉं, यह मैं कर सकता हूँ। यदि तुमने अग्नि-प्रवेश का निश्चय ही कर लिया है तो सती सोलहों शृङ्गार करके चिता में प्रवेश करती है। तुम सब शृङ्गार करके आओ, तब तक मैं तुम्हारे लिए चिता तैयार करता हूँ।' भगवान् की आज्ञा पाकर द्रौपदी शृङ्गार करने भीतर चली गई। उधर श्याम-सुन्दर ने सूखी लकड़ी इकट्ठी करके बड़ी भारी चिता बना ली।'

"रोते-रोते द्रौपदी ने सोलहों शृङ्गार किये। आज उसे शृंगार करने में प्रसन्नता नहीं हो रही थी, वह अपने कर्तव्य का पालन मात्र कर रही थी। शृङ्गार करके वह बाहर आई, पांडव गहरी नींद में सो रहे थे, उन्हें संसार का कुछ भी पता नहीं था। रात्रि साँय-साँय कर रही थी। कुछ बादल भी हो आये थे। सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ था। केवल पहरियों की आवाजें सुनाई दे रही थीं। द्रौपदी ने देखा—दूर अश्वत्थ के नीचे धू-धू करके चिता दहक रही है। उसने अपने पतियों को मन ही मन प्रणाम किया और वह भगवान वासुदेव के साथ चल दी।

"राजन्! तुम्हारे पाँचों पितामहों को कुछ पता ही नहीं था, कि बाहर क्या हो रहा है। संसार सो रहा था, जाग रहे थे दो, कृष्णा और कृष्ण। तुम्हारी पितामही द्रौपदी रोती-रोती अश्वत्थ के समीप पहुँची, उसने अश्रु भरे नेत्रों से एक बार दृष्टि भरकर श्यामसुन्दर को निहारा और फिर चिता में कूदने को उद्यत हुई। तब पहरेदार वेप में धनुषबाण धारण किये हुए भगवान् वासुदेव बोले—'द्रौपदी! तुम परम सती होकर भी ऐसी भूल कर रही हो। पहिले अग्नि की प्रदक्षिणा करनी होती है. तब सती अग्नि में प्रवेश करती है।

तुम अग्नि की पहिले प्रदक्षिणा तो कर लो। रोते-रोते पांचाली ने कहा—'मेरी तो प्रभो ! सब प्रदक्षिणा ही है। यदि आपकी ऐसी ही आज्ञा है तो लीजिये मैं प्रदक्षिणा किये लेती हूँ। यह कहकर द्रौपदीजी ने अग्निके एक प्रदक्षिणा करके प्रवेश करना चाहा। तब श्यामसुन्दर बोले—'अग्निकी एक प्रदक्षिणा नहीं होती, सात प्रदक्षिणा करनी चाहिए।'

"द्रौपदी ने दुखित मन से कहा—'प्रभो ! मेरी सामर्थ्य तो अब है नहीं। मेरे पैर उठते ही नहीं। मुझसे अब दूसरी भी प्रदक्षिणा न होगी। चाहे विधि हो या न हो, अब मैं तो अग्नि में प्रवेश करती ही हूँ।'

"भगवान् गम्भीर होकर बोले—'देखो, एक काम करो। अविधि कार्य उचित नहीं। तुम मेरी पीठ पर चढ़ जाओ इस प्रकार तुम सातों प्रदक्षिणा कर सकोगी।'

श्रीकृष्ण के साथ सुभद्रा के कारण द्रौपदी को सगे भाई का सा सम्बन्ध था। फिर भगवान् से उसे किसी प्रकार का संकोच भी नहीं था, अतः भगवान् की आज्ञा उसने शिरोधार्य की। भक्तवत्सल भगवान् ने उसे अपने कंधे पर चढ़ा लिया राजन् तुम्हारे पितामहों के लिए सर्वान्तर्यामी प्रभु ने क्या क्या नहीं किया ? जिनके चरण-कमल की धूलि के लिए योगिजन अनेकों जन्म तपस्या करते हैं वे ही भक्तवत्सलता वश भक्तों के धूलि भरे चरणों को सिरपर धारण करते हैं द्रौपदी अपने अश्रुओं से उनके पीताम्बर को भिगो रही थी वे उन्हें लेकर अग्नि प्रदक्षिणा कर रहे थे। प्रदक्षिणा करते करते बड़ी दूर भीष्मजी के शिविर के समीप पहुँच गये। तब बड़ी हड़बड़ाहट के स्वर में बोले—'देवी ! एक बड़ी भूल हो

गई। सती को चिता पर चढ़ने के पूर्व अपने कुल के वृद्ध पुरुष को प्रणाम करना चाहिए। तुम्हारे कुल में पितामह ही सबसे वृद्ध हैं, अतः तुम जाकर उन्हें प्रणाम कर आओ।'

"महाराज! उस समय अंधेरी रात्रि थी, हाथ से हाथ दिखाई नहीं देता था। असमय में घनघोर घटायें घिर आई थीं, छोटी-छोटी बूँदें भी पड़ रही थीं। श्यामसुन्दर एक कम्बल स्वयं ओढ़े थे, एक से द्रौपदी को ढके हुए थे, जिससे उसके वस्त्र न भीगने पावें। जब भगवान् ने भीष्म को प्रणाम करने की आज्ञा दी तब द्रौपदी ने कहा—'प्रभो! पितामह इस समय शयन कर रहे होंगे, फिर उनके यहाँ तो कड़ा पहरा रहता है, मुझे भीतर प्रणाम करने कौन जाने देगा? मैं यहीं से उन अपने बूढ़े श्वसुर को प्रणाम किए लेती हूँ।'

"भगवान् बोले—'नहीं, ऐसा विधिहीन कार्य मत करो। जब वे यहाँ स्वयं उपस्थित हैं, तो साक्षात् जाकर उनकी चरण वन्दना करनी चाहिए। यह सत्य है कि भीष्म पितामह के यहाँ कोई जा नहीं सकता, किन्तु साधु, ब्राह्मण, कन्या, सती स्त्री और दीन-दुखी जब चाहें पितामह का दर्शन कर सकते हैं। इन सब के लिये उनका द्वार सदा खुला रहता है। हाँ, रही मेरी बात, सो मैं बाहर बैठा रहूँगा। तुम पहिले अपना परिचय मत देना, जाकर प्रणाम करना। जब वे आशीर्वाद दे दें, तब अपना परिचय देना। वे पूछें तुम इतनी रात्रि में किसी के साथ आई तो मेरा नाम न बताना, कह देना—मेरा एक भृत्य साथ आया है।'

अब द्रौपदी को कुछ-कुछ आशा हुई, कि यह तो श्याम-सुन्दर मेरी रक्षा का ही उपाय कर रहे हैं। उसे बड़ी शान्ति

हुई। इतने में ही भगवान् पितामह भीष्म के शिविर द्वार पर पहुँच गये। प्रहरी ने पूछा—कौन है? भगवान् ने डरते-डरते कहा—'यह सती है, पितामह के दर्शन करना चाहती है।'

प्रहरी ने अकड़ कर कहा—'हाँ सती, तो भीतर जा सकती है। उसके लिये पितामह का द्वार सदा खुला रहता है, किन्तु तुम भीतर नहीं जा सकते।'

भगवान् ने दीन स्वर में कहा—'भैया, भीतर न भी जाने दो, तो कहीं बैठने को छाया में जगह तो बता दो, हम भीग रहे हैं।'

इस पर उसने डाँटते हुए कहा—"यहाँ कहाँ छाया रखी है! बाहर बैठो, भीतर जाने की आज्ञा ही नहीं। तब विवशता दिखाते हुए भगवान् ने द्रौपदी से कहा—'देवि! तुम्हीं जाओ, मैं यहीं बैठा हूँ।' इस पर प्रहरी ने कहा, भीतर जूता पहिन कर न जाना होगा। पैर के जूतों को यहीं छोड़ जाओ।' द्रौपदी ने डरते-डरते कहा—'यहाँ वर्षा में तो मेरे जूते भीग जायेंगे।' इसपर भगवान् बोले—'देवि! तुम मुझे दे जाओ, जब तक तुम न लौटोगी, मैं इन्हें अपने कम्बल में छिपाये रखूँगा।'

"राजन्! तुम्हारी पितामही तो यन्त्र की भाँति भगवान् की सभी आज्ञाओं का यथावत् पालन करती थीं। उन्होंने जूते श्यामसुन्दर को सौंपे और भीतर शीघ्रता के साथ चली गई। भीतर जाकर उन्होंने देखा कि वह बूढ़ा सिंह सो नहीं रहा है। अपने शिविर में मदोन्मत्त सिंह की भाँति शनैः शनैः इधर से उधर टहल रहा है। पितामह के तम्बू में एक क्षीण सा प्रकाश हो रहा था। उनकी मुख-मुद्रा से प्रतीत होता था, कि वे किसी गहरी चिन्ता में मग्न हैं। किसी अत्यन्त गम्भीर विषय को सोचकर

हैं। द्रौपदी ने शनैः शनैः जाकर अपने वस्त्रों को सावधानी से समेट कर, सिर को भूमि में टेक कर, पितामह को पंचाङ्ग प्रणाम किया। उसने बहुत ही क्षीण स्वर में कहा—'देव ! मैं सती अपने सुहाग की रक्षा के लिये आपको प्रणाम करती हूँ।' घोर चिन्ता में मग्न हुए पितामह ने जब सहसा एक सती साध्वी कुलवधू को अपने सम्मुख प्रणाम करते देखा, तो स्वभावानुसार उनके मुख से आपसे आप ही निकल पड़ा—'सौभाग्यवती हो !' बस, अब पांचाली की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। वह पृथ्वी पर बैठ गई और रोते-रोते बोली—'देव ! आप सत्यवादी हैं, आप कभी हँसी में भी असत्य भाषण नहीं करते, किन्तु आज आपका आशीर्वाद सत्य होता है कि नहीं, इसमें मुझे संदेह है। मेरे सौभाग्य की तो आपने कल नाश करने की प्रतिज्ञा की है।' अब पितामह का ध्यान भंग हुआ। वे पांचाली को पहिचान कर बोले—'कौन, बेटी ! द्रौपदी ! अरे, तू यहाँ इतनी रात्रि में कैसे आ गई ? तेरे वस्त्र भी नहीं भीगे हैं, पैरों में भी कीच नहीं लगी है, तुझे मेरे शिविर का रास्ता बताया किसने ?'

"रोते-रोते द्रौपदी ने कहा—'प्रभो ! मैं अपने एक सच्चे सेवक के साथ आई हूँ।'

"बूढ़ा समझ गया, कि इतनी युक्ति बताने वाला सिवाय श्यामसुन्दर के दूसरा कोई सेवक नहीं। उन्होंने घबड़ाहट के साथ पूछा—'वह सेवक कहाँ है ?'

द्रौपदी ने कहा—'प्रभो ! वह द्वार पर जूता लिए बैठा है, द्वारपाल ने उसे बहुत कहने पर भी भीतर नहीं आने दिया।'

"इतना सुनते ही पितामह द्वार की ओर दौड़े। प्रहरी सके हुए वे डर गये। जाते ही पितामह श्यामसुन्दर के शरीर से लिपट गये और अपने प्रेमाश्रुओं से उन्हें भिगोते हुए बोले—'श्यामसुन्दर! जिनके रक्षक आप हैं उन्हें कौन मार सकता है? जिनके सुहाग को आप रखना चाहते हैं, उसके सुहाग को कौन मेंट सकता है। हे दीनबन्धो! हे भक्तवत्सल! हे अशरण शरण! हे शरणागत प्रतिपालक! आपकी इतनी नम्रता—इतनी शरणागत वत्सलता—देखकर मैं भटक जाता हूँ, अपने आपे में नहीं रहता। हे दयासागर! अब तो मैं मरूँगा ही, किन्तु मेरी एक भीख है—मरते समय आप इसी श्यामसुन्दर चतुर्भुज वेप से मेरे सम्मुख उपस्थित रहें। आपके दर्शन करते करते मैं इस पांचभौतिक शरीर का त्याग करूँ, यह वरदान आप मुझे दें।'

"भगवान् ने 'तथास्तु, कहकर उन्हें वरदान दिया। इस प्रकार राजन्! बड़े कौशल से उन्होंने पितामह द्वारा ही पांडव को निर्भय वना दिया, द्रौपदी के सौभाग्य की रक्षा की। ऐसी एक नहीं अनेकों घटनायें हैं जिनका वर्णन शेषजी अपनी दो सहस्र जिह्वा से भी नहीं कर सकते। महाराज! वे तुम्हारे पितामहों के छोटे से छोटे कार्य को करने में भी अपना बड़ा गौरव समझते थे। सेवकों की भाँति धर्मराज के पीछे-पीछे चला करते थे। उनकी खड़े होकर स्तुति करते थे। पहिले उठ कर उन्हें स्वयं प्रणाम करते तथा समस्त भूमंडल के राजाओं से प्रणाम कराते थे। उन्होंने तुम्हारे पितामहों के यश को दिगन्त व्यापी वना दिया। महाराज! यह बड़े सौभाग्य की बात है, कि आप भी अपने पूर्वजों की भाँति श्रीकृष्ण के परम भक्त हैं, आपका भी भगवान के चरणों में—उनकी लीला गुण

सुनने में—अत्यन्त अनुराग है। यही जीवन की सार्थकता है। मनुष्य शरीर का यही एकमात्र फल है, कि भगवान् वासुदेव में अव्यभिचारिणी अहैतुकी भक्ति हो।"

महाराज परीक्षित् इस कथा को श्रवण करके अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और उन्होंने अनेक धन, रत्न तथा वस्त्र, भूषण देकर उन ब्राह्मण देव का सत्कार किया।

छप्पय

कृष्णा ते यों कहें कृष्ण कछु बात सुनो है ?
पांडव मारूँ काल्हि प्रतिज्ञा भीष्म करी है ॥
कहे द्रौपदी दुखित दयालो ! दया दिखाओ।
पावक में घरि मरूँ नाहिं पति मोर बचाओ ॥
रची चिता फेरीनि मिष, भीष्म द्वार पै ले गये।
गङ्गा सुत आसिस दई, तब पांडव निर्भय भये ॥

—:o:—

दिग्विजय के प्रसंग में पृथ्वी धर्म सम्वाद

(६६)

यद्वाम्ब ते भूरिभरावतार—
कृतावतारस्य हरेर्भरित्रि।
अन्तर्हितस्य स्मरती विसृष्टा,
कर्माणि निर्वाणिविलम्बितानि ॥१

(श्रीभा० १ स्क० १६ अ० २३ श्लो०)

छप्पय

हरि लीला अतिमधुर आइ सब नृपहिं सुनावहिँ।
सब समाज के सङ्ग सुनहिं, अति हिय हरषावहिँ॥
तबई शिविर समीप घटी घटना अद्भुत अति।
एक पैर तें धर्म वृषभ बनि चलहिँ मन्द गति॥
धेनु रूप धरणी धरे, रोवे सुत बिनु मातु ज्यों।
मातु दुखित पूछहि तनुज, धर्म धरनि तें कहे .यों॥

यदि निरन्तर दिन ही होता रहे, कभी रात्रि हो ही नहीं, तो फिर न दिन का महत्व रहे, न नित्य नूतनता ही प्रतीत हो। दुःख से सुख का महत्व जाना जाता है, अन्धकार से प्रकाश की

---

१ वृषभ रूप धारी धर्म, गो रूपधारिणी पृथ्वी से पूछ रहा है—हे माता धरणि! आप दुखी क्यों हैं? आपके दुःख के बहुत से कारणों

महत्ता प्रतीत होती है। अधर्म से धर्म का गौरव समझा जाता है। इसी प्रकार संसार में सभी वस्तुओं में द्वन्द्व है। जीवन मरण, हानि लाभ, यश अपयश, जय, पराजय सुख, दुःख, अच्छा बुरा, मीठा कड़वा, अनुकूल प्रतिकूल, इन द्वन्द्वों का ही नाम संसार है। जो इन द्वन्द्वों से रहित होकर ऊपर उठ गया वही निर्द्वन्द्व है, वह संसारी नहीं संसार का स्वामी है, वह जीव नहीं ब्रह्म है, वह जगत् का प्राणी नहीं जगत्पति है। परिवर्तन सदा द्वन्द्व में ही संभव है। निर्द्वन्द्व तो सदा निर्विकार, निर्लेप और अपरिवर्तनशील रहता है। इसीलिये शास्त्रकार पहिले अधर्म को त्याग कर धर्माचरण करने के लिये आग्रह करते हैं, अन्त में फिर धर्म अधर्म दोनों का ही परित्याग करके निर्द्वन्द्व हो जाने पर बल देते हैं। विना निर्द्वन्द्व हुए, सुख नहीं, सच्ची शांति नहीं, संस्कृति का अंत नहीं और संसार का सर्वदा नाश नहीं हो सकता। दिन के पश्चात् जैसे रात्रि का होना अवश्यम्भावी है, जैसे जन्म लेने वाले प्राणियों का मरण निश्चित है, उसी प्रकार धर्म के पश्चात् अधर्म का प्रचार होना सनातन नियम है। सत्ययुग के पश्चात् त्रेता, त्रेता के बाद द्वापर और द्वापर के पश्चात् कलियुग का आना अपरिहार्य है। उसे कोई प्रयत्न करके हटा नहीं सकता, टाल नहीं सकता, अन्यथा नहीं कर सकता। हाँ, बीच-बीच में उसकी रोक-थाम करने के प्रयत्न होते हैं, किन्तु उनसे और भी उनका प्रचार होता है। प्रवाह को सर्वथा कोई नहीं रोक सकता। आप यन्त्रों के द्वारा थोड़ी

में से एक प्रधान कारण यह भी हो सकता है, कि जिन्होंने तुम्हारा महान् भार उतारने के लिए ही अवतार लिया था, उनके अन्तर्हित हो जाने से, उनसे रहित होकर उनके अद्भुत चरित्रों को याद कर रही हो क्या, जिन चरित्रों के श्रवण पर मोक्ष अवलम्बित है?

दूर तक रोक ले जायँगे, जहाँ उन प्रयत्नों में शिथिलता हुई, वहाँ फिर प्रवाह नीचे की ही ओर अपनी स्वाभाविक गति से बहने लगेगा।

पांडवों के सम्मुख धर्म का सर्वत्र प्रचार था। कलियुग के आ जाने पर भी श्रीकृष्ण भगवान् के रहने से वह पृथ्वी पर अपना प्रभाव न जमा सका। अब भगवान् स्वधाम पधार गये पांडवों ने भी अपनी इहलौकिक लीला समाप्त कर दी। अब कलियुग को खुलकर खेलने का अवसर प्राप्त हो गया। उसने चारों ओर अपना प्रभाव जमाना आरम्भ किया। फिर भी उसके मन से कुछ अभी डर बैठा था। महाराज परीक्षित् बड़े धर्मात्मा थे। उनके शरीर में भरतवंश का रक्त था। श्रीकृष्ण की बहिन के लड़के के वे लड़के थे, महाराज पांडु के पौत्र के पुत्र थे। इसीलिये कलियुग उनसे डरता था। यह अवसर खोज रहा था, कि किसी प्रकार महाराज तक मेरी पहुँच हो जाय। क्योंकि जब तक राजा की अधर्म में प्रवृत्ति नहीं होती तब तक प्रजा अधर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे भाव राजा के होंगे, वैसे ही प्रजा के होंगे। राजा की भावना दुष्ट होने से ही ऋद्धि सिद्धियों का क्षय होता है। एक राजा आखेट करने जङ्गल की ओर जा रहा था। रास्ते में एक सूअर का पीछा करते हुए उसके साथी बिछुड़ गये। वह अकेला ही रह गया। धूप में बहुत दौड़ने से उसे बड़े जोर से प्यास लगी। पास में ही एक ईख का खेत था, उसकी रक्षा एक युवती कुमारी कर रही थी। राजा ने उससे पानी माँगा। उसने उन्हें साधारण पथिक समझ कर उसी समय एक गन्ना उखाड़ कर, उसे निचोड़ कर उसके रस से एक पात्र भर कर राजा को दिया। सुन्दर स्वादिष्ट तत्काल के निकले

मधुर रस को पीकर राजाकी तृषा शांत हुई। वे बड़े सन्तुष्ट हुए, किन्तु एक गन्ने में इतना रस निकलने से उन्हें विस्मय हुआ। उन्होंने मन ही मन सोचा—ओहो, जब एक गन्ने में इतना रस निकलता है, तब तो ये कृषक मालामाल हो जाते होंगे। हमें ये केवल छठा ही अंश देते हैं, इन पर और अधिक कर लगाना चाहिये। अधिक कर लगाने से मेरा कोष बढ़ेगा। यह सोचते-सोचते वे दूर निकल गये। सूअर कहीं विलीन हो गया, साथियों से भेंट नहीं हुई। राजा पुनः लौट कर उसी लड़की के खेत में आये। अब के उन्होंने फिर रस माँगा। लड़की ने फिर एक गन्ना उखाड़ कर निचोड़ा। अब के उसमें आधा भी रस नहीं निकला। तब तो राजा ने आश्चर्य से चकित होकर पूछा—"देवि ! क्या कारण है पहिले तो एक गन्ने में पूरा पात्र भर गया था, अब के आधा भी नहीं भरा ?" तब उस समझदार बालिका ने कहा—"हे पथिक ! मैंने तो कोई मन में बुरी बात सोची नहीं, मेरे पिता धर्मात्मा हैं। मालूम होता है, इस देश के राजा के हृदय में कोई पाप आ गया। उसके मन में किसी का द्रव्य हरण करने का लोभ आ गया होगा, इसी से इसका रस कम हो गया होगा।" राजा को अपनी भूल मालूम हुई और उन्होंने अतिरिक्त कर लगाने का विचार त्याग दिया। इस कथा से इतना ही भाव निकलता है कि जब तक राजा अधर्मी न होगा, तब तक सम्पूर्ण प्रजा अधर्मी न बनेगी। पाप का सर्वत्र प्रचार न होगा। राजा के अधर्मी हो जाने से प्रजा के सभी लोग उसी के सभी अवगुणों का आँख बन्द करके अनुसरण करते हैं। राजा के आचार का अनुवर्तन ही अन्य लोग किया करते हैं और उसी में अपनी उन्नति का अनुभव भी करते हैं। इसीलिये कलियुग किसी प्रकार राजा के शरीर में

प्रवेश करने की बात सोच रहा था। वैसे तो सब लोगों की प्रवृत्ति कलियुग के कारण अधर्म की ओर झुक गई थी। सभी लोग अपने कुलागत सदाचार का परित्याग करके जहाँ तहाँ सभी के साथ खाने पीने लगे थे। यज्ञ याग और श्राद्ध तर्पण आदि पारलौकिक कार्यों के प्रति लोगों के मनमें कुछ-कुछ अविश्वास

से और

पुरुषों के सम्मुख समर्थन नहीं करते थे। वेमन से ही सही, कुछ-कुछ धर्म-कार्य भय से भी होते ही हैं।

धर्म तो बुद्धिमान है, उसे देश-काल का अनुभव है। वह समझता है—अब मेरा समय गया। अब अधर्म का पलड़ा भारी है। उससे विरोध करने से काम न चलेगा। इसलिये वह दुखी होने पर भी अपने दुःख का कारण अधर्म को नहीं बताता। अपने प्रारब्ध के भरोसे दुःख को भोगता है। किन्तु पृथ्वी तो स्त्री ठहरी। स्त्रियों को शृङ्गार स्वभाव से ही प्रिय होता है और विशेषकर भाग्यवती स्त्री को। पृथ्वी का सौभाग्य है धर्म। उसके स्वामी हैं—धर्म के रक्षक भगवान वासुदेव। पृथ्वी पर जब धर्म का प्रचार होता है, तो मारे हर्ष के पृथ्वी के रोम-रोम खिल उठते हैं। जैसे अत्यन्त प्रसन्न हुई पत्नी अत्यन्त प्रसन्नता के साथ पति के चरणों में सर्वस्व समर्पण कर देती है, वैसे ही धर्म के द्वारा वृद्धि को प्राप्त वसुन्धरा सच्ची वसुन्धरा बन जाती है। वह अत्यन्त आह्लाद और उमंग के साथ स्थान-स्थान पर सुवर्ण और विविध प्रकार के रत्नों की खानें उत्पन्न कर देती है। नाना प्रकार के फल, फूल और कंदमूलों को प्रकट करके प्रजाजनों को सुखी बना देती है। इसके विपरीत जब

उसके ऊपर अधर्म छा जाता है, तो दुखी होकर सभी बीजों और धनों को अपने भीतर छिपा लेती है। पृथ्वी का सर्वश्रेष्ठ शृङ्गार—सब से मूल्यवान शिरोभूषण—तो भगवान् नंदनंदन के वज्र, अंकुश, ध्वजा आदि चिन्हों से चिह्नित, इन्द्रादि देवताओं से सदा वंदित उनके पादपद्मों की उनके वक्षःस्थल पर उभड़े हुए चरण चिन्हों की रेखा ही हैं। वे चरण अब अवनि से अन्तर्हित हो गये। भगवती वसुन्धरा अब उन अनुपम चरणों की छाया से रहित हो गई। इसीलिये उसका मुख म्लान हो गया। अश्रु बहाती हुई वह रुदन करने लगी। उसे इस प्रकार रुदन करते देखकर धर्म उससे पूछने लगा।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! पृथ्वी तो जड़ है, वह रोने कैसे लगी। धर्म कोई सजीव प्राणी तो है नहीं जो बोल सके। इसलिये इन दोनों में सम्वाद हुआ कैसे?"

सूतजी बोले—हे धर्मज्ञ! यह शङ्का आपकी अपनी निजी नहीं है। आप तो सब जानते हैं, किन्तु इन कलियुगी जीवों के हितार्थ आप पूछ रहे हैं। हे महामुनि! संसार में जड़ कोई पदार्थ नहीं। जैसे संसार में न कोई छोटा है न बड़ा, न कोई भारी है न हलका। ये भेद अपेक्षाकृत हैं। जैसे हाथी से घोड़ा छोटा होता है, घोड़ा से गधा छोटा होता है, गधा से हिरन छोटा होता है, हिरन से कुत्ता छोटा होता है, कुत्ते से बिल्ली छोटी होती है और बिल्ली से चूहा छोटा होता है। इनमें स्वयं छोटा बड़ापन नहीं है। हाथी से बड़े भी जीव हैं, उनकी अपेक्षा वह छोटा है। चींटी से भी छोटे बहुत हैं, उन सबसे चींटी बड़ी है। सुमेरु से भी बड़ी वस्तुएँ संसार में होंगी, उनकी अपेक्षा वह छोटा है, त्रिसरेणु से भी छोटा परमाणु बताया

जाता है अतः त्रिसरेणु परमाणु से बड़ा है। यही दशा जड़-चेतन की है। जिनमें चैतन्य का प्रकाश जितना ही अधिक प्रतीत होता है, वे उतने ही अधिक सजीव कहलाते हैं। जिनमें चैतन्य का प्रकाश दूसरों की अपेक्षा कम होता है, उन्हें लोग जड़ कहने लगते हैं। जैसे मनुष्यों में जिनकी बुद्धि हीन होती है उन्हें लोग 'जड़' कह देते हैं। पत्थर जड़ नहीं है, पृथ्वी ... नहीं है इनमें चैतन्य का प्रकाश कम होता है। इनसे ... होता है, अतः वृक्ष पत्थरों की अपेक्षा चैतन्य ... वृक्षों से कीट पतंग, उनसे पशु-पक्षी, फिर बुद्धिजीवी—बुद्धिजीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ माना गया है। संसार में जितनी भौतिक वस्तुयें हैं, उन सब के एक अधिष्ठातृदेव होते हैं। वे देवताओं की तरह अशरीरी होते हैं। भाव जगत् में रहते हैं, जब कोई बात करनी होती है, तो किसी अपने अनुरूप शरीरी के शरीर में प्रवेश करके बातें करते हैं। जैसे भूत-प्रेतों का आवेश मनुष्यों में होता है। महाभाग! हमने स्वयं देखा है, कि बहुत से मनुष्य जिस भाषा को जानते भी नहीं, उन्हीं के शरीर में उस भाषा को जाननेवाला कोई प्रेत प्रवेश कर जाता है, तो वह मनुष्य उस भाषा को स्पष्ट बोलने लगता है। वह क्या बोलता है, उसकी वाणी से वह अशरीरी प्रेत ही बातें करता है। इसी प्रकार धर्म पृथ्वी, कलियुग ये सभी अशरीरी देव हैं। जब ये मनुष्यों पर अपने भाव प्रकट करना चाहते हैं, तो या तो तदनुरूप अपना स्वरूप धारण कर लेते हैं या किसी के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। यहाँ पर पृथ्वी ने गौ का रूप धारण कर लिया, क्योंकि गौ और पृथ्वी में बहुत अधिक साम्यता है। जैसे पृथ्वी हमें धारण करके हमारा पालन-पोषण करती है उसी प्रकार गौ भी दूध पिलाकर, बैल पैदा करके हमारी रक्षा करती है।

जिस प्रकार गौ का पुत्र वृषभ होता है उसी प्रकार पृथ्वी का पुत्र धर्म है। धर्म का उपार्जन अधिकतर पृथ्वी पर ही किया जाता है। अन्य लोक तो धर्म अधर्म के फलों को भोगने के लिये हैं। धर्म की वृद्धि पृथ्वी पर ही होती है। इसीलिए धर्म ने वृषभ का रूप धारण किया था। सत्ययुग में धर्म के तप, शौच, दया और सत्य—ये चार चरण थे। त्रेता में तप के नष्ट होने से धर्म तीन चरणों वाला हो गया। द्वापर में शौच के नष्ट होने से धर्म के दो ही चरण रह गये और कलियुग में दया नष्ट हो जाने से अब धर्म केवल सत्य के ही सहारे खड़ा हुआ है। घोर कलियुग आने पर जब उसका सत्य रूपी पैर भी नष्ट हो जायगा, तो कृपालु भगवान् अवतार लेकर धर्म के फिर चारों पैरों को यथावत् बना देंगे, फिर सत्ययुग हो जायगा। इस प्रकार यह क्रम अनादिकाल से चला आ रहा है, अनन्त काल तक चला जायगा। यही प्रकृति का—सृष्टि का धर्म है। अब कलियुग आ गया था इसलिये धर्म ने एक पैर के बैल का रूप बनाया। पृथ्वी रूपी गौ, दुबली, पतली, रोती, बिललाती, पछताती, दुखी होती हुई वहाँ महाराज परीक्षित् के शिविर के समीप खड़ी थी। एक पैर वाला वृषभ उससे पूछ रहा था।

वृषभ रूपी धर्म ने पूछा—"माँ! तुम इतनी रो क्यों रही हो? तुम्हारे दुःख का क्या कारण है? अपनी कुशल-क्षेम बताओ, अपने मुखम्लान होने का कारण बताओ। मालूम होता है, आपको कोई आन्तरिक क्लेश है।"

पृथ्वी ने कहा—"भैया, काहे का क्लेश है, क्या बताऊँ? बताने योग्य बात नहीं, अपने भाग्य के लिये रो रही हूँ। सुख दुःख मनुष्य को अपने भाग्य से ही मिलता है।"

धर्म ने कहा—"यह तो ठीक ही है। दुःख-सुख प्रारब्धानुसार ही होता है, फिर भी दुःख के कुछ कारण होते हैं। माताओं को विशेष कर चार ही कष्ट विशेष होते हैं। या तो उनका कोई बन्धु-बान्धव परदेश चला गया हो, या पुत्र दुखी हो, या आश्रित परिवार वालों पर कोई विपत्ति हो अथवा अपने पति का वियोग हो गया हो। इनमें से तुम्हें कौन सा कष्ट है? तुम्हारे हितैषी जो सद्‌गुण हैं, वे कहीं चले गये क्या? या मेरे तीन पैर कट जाने के कारण तुम्हें दुःख हो रहा है? या तुम पर अब शूद्रों और म्लेच्छों का आधिपत्य हो रहा है और निकट भविष्य में होने वाला है, उसके लिये तुम इतनी व्यग्र हो रही हो? अथवा आजकल धर्म न होने से कुपित हुए इन्द्र समय पर वर्षा नहीं करते इससे तुम्हारे आश्रय में रहने वाली प्रजा दुखी है, उनके दुःख से तुम दुखी हो रही हो? अथवा निरीह बच्चों और अबलाओं पर राक्षस प्रकृति के दुष्ट लोग मनमाना अत्याचार कर रहे हैं, इस कारण आपका हृदय द्रवीभूत हो रहा है? या जिन ब्राह्मणों का कार्य ही सदा अध्ययन-अध्यापन तथा धर्म-कार्यों में लगे रहना था, वे उस कार्य को छोड़कर दुष्ट राजाओं की सेना में लग रहे हैं, इससे आपका मुख म्लान हो गया है? अथवा अनधिकारी कुकर्मी सदाचारहीन ब्राह्मणों के समीप सरस्वती के फँस जाने से उस वाग्देवी के लिये आप दुखी हो रही हैं? अथवा इन नाममात्र के राजा कहलाने वाले दस्युओं द्वारा पीड़ित प्रजा के शोक से तुम रो रही हो? या इन हरे भरे समृद्धिशाली राष्ट्रों को कलिकाल के प्रभाव से उजड़े हुए देखकर आपका हृदय विदीर्ण हो रहा है? या आजकल लोग सभी सदाचार के नियमों को भूलकर, जहाँ तहाँ सबके यहाँ

सबके साथ, सब वस्तुएँ, सब समय में खाने पीने लगे हैं, उन अनाचारी पुरुषों के लिये तुम शोक कर रही हो ? या आज कल काम वासना बहुत प्रबल हो जाने से लोगों ने प्राचीन मर्यादा का त्याग कर दिया है, गम्या, अगम्या किसी का भेद भाव ही नहीं रहा है, सभी स्वेच्छाचारी स्वच्छन्द कामी हो गये हैं, उन कामुक पुरुषों की बढ़ी हुई काम-वृत्ति के लिये आप पश्चात्ताप कर रही हैं ? अथवा हे माता ! तुम्हारे जो अनन्य आश्रय, एक मात्र रक्षक तुम्हारे स्वामी श्रीश्यामसुन्दर हैं, उनके परलोक पधारने के कारण आप इतनी दुखी हो रही हैं ? इनमें से आपके दुःख का कौन-सा कारण है ? मुझे तुम ठीक ठीक बता दो, सभी स्पष्ट रीति से समझा दो, तुम्हारे दुःख से मैं भी दुखी हूँ। आज तुम सौभाग्यहीन विधवा अबला की भाँति विलख रही हो। तुम्हारे सौभाग्य के दाता तो आनन्द कन्द श्री नन्दनन्दन ही थे न ? तुम उन्हीं के लिये रो रही हो क्या ?"

धर्म के ऐसा पूछने पर भी पृथ्वी कुछ भी न बोल सकी। उसके दुःख के ये सभी कारण थे। किसे अपने दुःख का कारण बताती। उसके दुःख का एक मात्र कारण तो श्रीश्याम-सुन्दर का स्वधाम पधारना ही था। यदि देवताओं से भी वन्दित भगवान् के पाद-पद्म पृथ्वी पर विराजमान रहते तो इनमें से कोई भी दुःख पृथ्वी माता को न देखना पड़ता। श्री भगवान् के पधारते ही, अधर्म-बन्धु कलियुग ने सवत्र अपना प्रभाव जमा लिया। सभी प्राणियों की बुद्धि को पाप ने आच्छादित कर लिया। अधर्म के भार से दबी हुई पृथ्वी तीन पैर वाले धर्म के प्रश्नों का यथावत् उत्तर देने लगी।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! क्या धर्म को ज्ञात

नहीं था, कि कलियुग आ गया है ? इसी कारण पृथ्वी दुखी है। यदि वे सब जानते थे, तो जान-बूझ कर ऐसे व्यर्थ के प्रश्न क्यों पूछे ?"

सूतजी बोले—"महाभाग ! प्राणी जान-बूझ कर भी दुःख सुख की बात पूछता है। पूछने से उस सम्बन्ध की, चर्चा करने से दुःख कम होता है, सुख की अभिवृद्धि होती है। अपने स्नेही के सम्मुख दुःख कहने से हृदय हलका हो जाता है यही चर्चा चलाने के लिये धर्म ने ये प्रश्न किये। अब इनका पृथ्वी माता ने जो उत्तर दिया, अपने दुःख के जो विस्तार साथ कारण बताये, उन्हें अब मैं आप के सम्मुख कहूँगा। आप सब उसे समाहित चित्त होकर श्रवण करें। उसके श्रवण करने कराने से धर्म की वृद्धि होती है, और जहाँ धर्म और पृथ्वी का यह सम्वाद श्रद्धा-भक्ति से पढ़ा और सुना जाता है, वहाँ कलियुग के दोष नहीं रह सकते। वहाँ से कलियुग अपना डेरा-डंडा उठाकर भाग जाता है अतः मैं आपको इस सम्वाद को सुनाता हूँ।" इतना कहकर सूतजी आगे की कथा कहने को उद्यत हुए।

छप्पय

बीतति सुखद बसन्त ग्रीष्म में गरमी आवे।
प्रथम पक्ष शशि क्षीण द्वितिय महँ पुनि खिलजावे॥
महामोद में हँसे वही दुख में पुनि रोवे।
त्यों कलियुग पश्चात् सुखद शुभ सतयुग होवे॥
जननी ! दुख तें दुखित है, काहे अश्रु बहावती।
कान्तिहीन मुख म्लान करि, कस डरि-डरि डकरावती॥

पृथ्वी द्वारा निज दुःख का कारण बताना

(७०)

तस्याहमब्जकुलिशाङ्कुशकेतुकेतैः,
श्रीमत्पदैर्भगवतः समलङ्कृताङ्गी ।
त्रीनत्यरोच उपलभ्य ततो विभूतिम्,
लोकान् स मां व्यसृजदुत्स्मयतीं तदन्ते ॥१

(श्री भा० १ स्क० १६ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

बोली वसुधा, वत्स ! विपति की बात बताऊँ ।
प्राणनाथ पद पद्म परस बिनु अति अकुलाऊँ ॥
जिनकी कृपा कटाक्ष पाइ पावन सब होवें ।
मधुर मन्द मुसकान नारि लखि धीरज खोवें ॥
तिनु बिनु हौं विधवा भई, सब सुहाग सुख छुटि गयो ।
शम, दम, बल, तप, तेज, गुण, गये धैर्य मम छुटि गयो ॥

श्रीहरि सभी सद्गुणों की खानि हैं। वैसे तो हरि ब्रह्म रूप से चराचर विश्व में व्याप्त हैं, किन्तु जहाँ उनका विशेष रूप से प्रादुर्भाव होता है, जिस भक्त के हृदय में वे भगवती

---

१ जिन भगवान् के श्री चरणारविन्द कमल, वज्र, अंकुश और ध्वजा आदि चिह्नों से चिह्नित हैं। वे ही चिह्न जब मेरे अंगों पर

भक्ति के द्वारा प्रकट होते हैं—उस हृदय में सभी सद्‌गुण स्वतः ही आ-आकर निवास करने लगते हैं। भगवान् वासुदेव के प्रादुर्भाव का और सद्‌गुणों का शरीर और छाया के समान सम्बन्ध है। शरीर जहाँ रहेगा उसकी छाया उसके साथ ही साथ रहेगी। धवलता जैसे दूध से, शीतलता जैसे चन्द्रमा से, उष्णता जैसे अग्नि से गन्ध जैसे पृथ्वी से पृथक् नहीं की जा सकती, उसी प्रकार सद्‌गुणों को सर्वेश्वर से भिन्न नहीं बनाया जा सकता। समस्त संसारातीत सद्‌गुणों से ही श्रीहरि का श्रीविग्रह बनता है। उस श्रीविग्रह के अन्तर्हित होने से उसके साथ ही साथ सब सद्‌गुण भी विलीन हो जाते हैं। सुख स्वयं ही एक सद्‌गुण है। जहाँ सुख न रहेगा, वहाँ दुःख अपना आसन लगा लेगा। जहाँ से आनन्द चला जायगा, वहाँ विषाद का बोलवाला हो ही जायगा, जहाँ आह्लाद न रहेगा, वहाँ ताप, संताप, चिन्ता आदि आकर बस ही जायँगे। सभी प्राणी आनन्द, आह्लाद, सुख से हीन होकर ही दुखी और चिन्तित होते हैं। जब पृथ्वी को रोते हुए अत्यन्त दुखी देखकर धर्म ने उससे उसके दुःख का कारण पूछा, तो म्लान मुख से गोरूप धारिणी पृथ्वी कहने लगी।

पृथ्वी ने कहा—"बेटा धर्म ! तुम जो मुझसे पूछ रहे हो उसे स्वयं नहीं जानते क्या ? ऐसे अनजान भोले-भाले बनकर मुझसे क्यों पूछ रहे हो ? तुम अपनी दशा नहीं देख रहे हो क्या ?"

विभूषित होते थे, तो उस समय में अपने को महान् सौभाग्यशालिनी समझकर अत्यधिक सुशोभित होती थी। किन्तु हाय ! आज उस सौभाग्य का अन्त हो गया। मुझ अभागिनी को श्यामसुन्दर त्याग कर स्वधाम पधार गये। मुझे दीन दुखी बना गये।

धर्म बोले—"देवि ! मेरे तो ये तीन पैर टूट गये हैं, चौथे में भी पीड़ा हो रही है। इसका कारण तुम्हीं बताओ। क्यों ऐसा हुआ ? क्यों मैं पादहीन दुर्बल और उत्साह हीन हो गया ?"

पृथ्वी बोली—"देखो तुम्हारे शौच, तप दया और सत्य—ये चार पैर हैं। ये चार गुण ही प्रधान गुण हैं। इन्हीं गुणों का आश्रय लेकर सहस्रों गुण रहते हैं। सत्य से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं। शौच से ही मनुष्यों का हृदय पवित्र होता है, पवित्र हृदय में ही प्रभु का वास होता है। दया धर्म की जननी ही ठहरी। जहाँ दया नहीं वहाँ तुम रहते ही नहीं। क्षमा क्षोभ को नाश करती है। त्याग संसार बन्धन से छुटा कर मोक्ष मार्ग में ले जाता है। सन्तोष सुख का सहोदर भाई ही है। कोमलता कमनीयता की सगी बहिन है, जहाँ कोमलता नहीं वहाँ उसकी सौत कर्कशता है, वहाँ सौन्दर्य नहीं, सुख नहीं। भीतर की इन्द्रियों—मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार—को अन्तःकरण कहते हैं। उनको वश में करने का नाम शम है। ज्ञानेन्द्रियों को वश में करके उन्हें सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करने को दम कहते हैं। कर्मेन्द्रियों को कुमार्ग पर न जाने देना, उनके इच्छित संसारी सुख भोगों को उन्हें न देने का नाम तप है। प्राणी मात्र में उसी प्रभु की सत्ता का अनुभव करना—इसको समता कहते हैं। जिसकी बुद्धि समता में स्थिर होगई है उसे शोक-मोह कभी होता ही नहीं। जब सभी उसके स्वामी सर्वेश्वर के स्वरूप हैं, तब फिर वह विरोध, झगड़ा-टंटा किससे करे ? किसे बुरा भला कहे, जो किसी को बुरा नहीं कहता उसे कभी दुःख होता ही नहीं। आये हुए दुःखों को जो बिना उनकी निंदा किये हुए स्वेच्छा से सहन कर लेता है, उसे तितिक्षा कहते हैं और विषयों की ओर से

उदासीन हो जाने का नाम ही उपरति है। चित्त के लिये तो कुछ चिन्तनीय वस्तु चाहिये, वह बिना विचारे बैठ नहीं सकता। अतः जो व्यर्थ की बातों का विचार न करके मन को शास्त्रीय विषयों में बहलाये रहते हैं, उसे श्रुत कहते हैं। इस शास्त्रीय चिन्तन से अन्तःकरण के मल विक्षेप दूर होते हैं। सद्-असद् के विवेक का नाम ज्ञान है। ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में सुख-दुःख आदि द्वन्द्व रहते ही नहीं। जहाँ निर्द्वन्द्व हुए नहीं कि दुःख-शोक का जो मूल कारण यह संसार है, वह तत्क्षण विलीन हो जाता है। चित्त की वृत्ति स्वभाव से ही विषयों की ही ओर जानेवाली है, उसे विषयों से खींचकर श्यामसुन्दर की ओर लगाने का ही नाम वैराग्य है। जिसे वैराग्य है, उसे संग्रह की क्या आवश्यकता ? जो कुछ संग्रह नहीं करता उसे रक्षा की भी चिंता नहीं, किसी पर अविश्वास भी नहीं। संग्रह ही दुःख का हेतु है। अधिक संग्रह करने से ही अधिक चिंता बढ़ती है। संसार में जितना भी ऐश्वर्य है उन्हीं नन्दनन्दन का है, अतः विश्वब्रह्माण्ड के समस्त ऐश्वर्य को अपनी बपौती समझकर उसमें मेरे-तेरे का पृथक् भाव न करना—समस्त ऐश्वर्य को अपने पिता का ही समझकर अपने को ऐश्वर्यवान् समझना—यही यथार्थ ऐश्वर्य गुण है। जब सभी ऐश्वर्य हमारे बाप का ही है, तो हम दूसरे के ऐश्वर्य से डाह क्यों करने लगे ? दूसरे का है ही कहाँ ? सबके एकमात्र उत्तराधिकारी तो हम ही उन जगत् पिता के इकलौते पुत्र हैं। हमारी आज्ञा से ही सर्वत्र प्रबन्ध हो रहा है, जैसे किसी सेठ की देश-विदेश में बहुत सी व्यापारिक शाखायें होती हैं, उनमें लाखों मुनीम नौकर कार्य करते हैं। किन्तु उस समस्त ऐश्वर्य का स्वामी वो सेठ और उसका पुत्र ही है। संसारी विषयों से सदा लड़ते रहना, उनसे कभी भी हार न मानना, दुर्गुणों को सदा

संहार करते रहना ही सभी शूर-वीरता है। जिसमें ऐसी शूर-वीरता है, जो धनुष चढ़ाये, शर संधाने, सदा सावधानी से सन्नद्ध रहता है, उसका संसार में कोई क्या बिगाड़ सकता है ? उसे कौन पराजित कर सकता है ?

"सूर्य में, चन्द्रमा में, अग्नि में, चराचर विश्व में, जो तेज है, सब हमारे श्यामसुन्दर का है। उसी तेज से तेजस्वी होकर सदा दुर्गुणों को तापित करते रहना, यही तेज का उपयोग है। इसका उपयोग सदा करते रहना चाहिए, नहीं तो निस्तेज पुरुष को सभी दबा देते हैं। बल तीन प्रकार का है—शारीरिक बल, इन्द्रियों का बल और मन का बल। मन के बल को सह कहते हैं, इन्द्रिय बल का नाम ओज है और शरीर में जो बल शक्ति बढ़ जाती है उसे बल कहते हैं। ये सभी बल उन—सबसे बली काल स्वरूप—कृष्ण के ही हैं। उनके यत् किंचित बल के कारण ही अन्य प्राणी अपने को बली बताते हैं। जिन्होंने उन बलराम के भाई कंसनिषूदन नटवर को हृदय में धारण कर लिया है, वही सच्चा बली है।

"विस्मरण ही मृत्यु है। स्मृति को ही शास्त्रकारों ने जीवन कहा है। इसीलिये ऋषियों ने बार-बार इस बात पर बल दिया है, कि सदा सर्वदा विष्णु का स्मरण करना चाहिये। कभी भूलकर भी उनका विस्मरण न करे। जिसे सर्वदा हार-स्मृति बनी रहती है, उसकी विपद् सब टल जाती है, क्योंकि 'हर-स्मृति' को सर्व विपद् विमोचिणी बताया है। यह जीव विषयों के अधीन है। विषयों की अधीनता स्वेच्छा से ग्रहण करने के कारण यह परतन्त्र बन गया है। पराधीन पुरुष को स्वप्न में भी सुख नहीं होता। अतः इन दुर्व्यसनों को

प्रबल आन्दोलन के द्वारा जो जीतकर आत्मा में स्थित हो जाता है, समझ लो उसी ने स्वराज्य को प्राप्त कर लिया, वही सदा स्वतंत्र है। स्वतंत्रता के सम्मुख हाथ जोड़े खड़ी रहता है।

कर्मों के करने में जो निपुणता है, उसे कुशलता कहते हैं। पहिले सभी शुभ कार्यों में मनुष्य कुशाओं को धारण करते थे, क्योंकि कुशा परम पवित्र मानी गई है। अतः जो कुश धारण किये रहता था, उसे लोग समझते थे—यह बहुत ही सुन्दर कार्य कर रहा है। इसीलिये उसे 'कुशल' कहते थे, अथवा जो कुशों को लाकर उन्हें बड़ी सुन्दरता से अलग करके बीन-बीन कर सुन्दर मूठा बना देता था उसे भी कुशल कहते थे। इसी कारण यह शब्द बुद्धिमानी के साथ शुभ काम करने वालों के लिये रूढ़ि हो गया। अर्थात् जो सुन्दर कर्म करे वह कुशल। जिसने कुशों को धारण कर लिया है। उसे पाप कैसे स्पर्श कर सकता है? पाप का ही भाई कलियुग है। पाप का ही पुत्र दुःख है। कुशल पुरुष के पास ये सब नहीं फटकते।

"सद्गुणों की जो एक आभा निकलती है, उसे कान्ति कहते हैं। जिनके पास सद्गुण नहीं हैं, उन विषयी पुरुषों में कान्ति कहाँ? वे तो प्रभा, कान्ति, तेज आदि से हीन होते हैं। अतः कान्ति देखकर समझना चाहिये—इस पुरुष के हृदय में कमलाकान्त विराजमान हैं।

"विकारों की सामग्रियाँ सम्मुख रहते हुए भी जिसके मन में धैर्य के कारण विकार उत्पन्न नहीं होते, उसे धीर पुरुष कहते हैं। धैर्यवान् पुरुष के लिये संसार में असम्भव कोई भी बात नहीं. वह पाताल को फोड़ सकता है, आकाश को छेद

सकता है, मन्दराचल को उखाड़ कर मरोड़ सकता है; स्वर्ग और पाताल को एक करके जोड़ सकता है। मनुष्य जब धैर्य छोड़ देता है, तभी दुखी होता है।

"मनुष्य किसी से तब डरता है, जब वह कर्कश हो जाता है। कर्कश पुरुष का हृदय सदा भयभीत बना रहता है, वह औरों से डरता है, और उससे डरते हैं, किन्तु जिसने मृदुता धारण की है, उससे कोई नहीं डरता। सभी उसकी ओर आकर्षित होते हैं। पुष्प मृदु होते हैं। सभी उन्हें देखकर प्रसन्न होते हैं। कुलवती कामिनी, अबोध शिशु, घी दूध की बनी मिठाइयाँ ये सब मृदु होती हैं और प्रायः सभी के मन को हरती हैं। श्यामसुन्दर सबसे अधिक मृदु हैं। अतः जिसने श्यामसुन्दर को हृदय में धारण कर लिया है, उसका हृदय टटके नवनीत से भी मृदुल हो जाता है।

"दूसरों को अनिष्ट पहुँचाने की मन में भावना आते ही भाव उत्पन्न हो जाता है। जिसने सभी प्राणी मात्र को अभय प्रदान कर दिया है, जिसने निर्भयता का व्रत धारण कर लिया है, वह सभी स्थानों में सभी दशाओं में सुखी ही होता है। यह गुण विषयियों में नहीं आ सकता क्योंकि भय तो सदा द्वैत में होता है। जो सर्वत्र अपने श्यामसुन्दर को ही निहारता है, जिसने अद्वैत अच्युत का आश्रय ग्रहण किया है, उसके लिये भय का स्थान ही कहाँ ?

"उद्धत स्वभाव ही दूसरों से मन में क्षोभ उत्पन्न करता है। जिसने अशिष्टता को त्याग कर विनय का पल्ला पकड़ लिया है, उस विनयी पुरुष के सम्मुख सभी मस्तक झुकाते हैं। विनय हमें स्वर्ग से भी ऊँची सीढ़ी पर चढ़ाकर मोक्ष तक

पहुँचाती है, भगवती भक्ति के मन्दिर में प्रवेश करा देती है। अतः भक्तों का सर्वश्रेष्ठ भूषण विनय ही है। जो दुश्शील हैं, शालीनता को जिन्होंने त्याग कर दिया है, वे इस लोक तथा परलोक में प्रतिष्ठित नहीं कहा सकते। कड़े, छड़े, बाजूबन्द, कङ्कण, मुकुट आदि अनेक शरीर को सजाने के लिये भूषण हैं, किन्तु इन सब साजों से सजा सजाया शरीर भी यदि शील गुण से रहित हो, तो वह व्यर्थ है। स्त्री पुरुष सभी का सर्वश्रेष्ठ भूषण शील ही है।

"प्रत्येक कार्य की सिद्धि उत्साह के द्वारा होती है। मन में कार्य करने की दृढ़ उमङ्ग उठना, यही उत्साह कहलाता है। उत्साही पुरुष सब कुछ करने में समर्थ होता है, एक उत्साही पुरुष बहुत कायरों को भी वीर बना देता है। सद्गुणों से ही सौभाग्य उदित होता है। गुण हीन सौभाग्यशाली कैसे हो सकता है? अतः सौभाग्य कार्य है, सद्गुण कारण है।

"प्रत्येक कार्य में छिछोरापन करना, कार्य के फलाफल को बिना जाने उसमें प्रवृत्त होना, यह बुद्धि की अस्थिरता के लक्षण हैं। जो प्रत्येक कार्य को भली भाँति समझ सोचकर गम्भीरता के साथ करते हैं और निश्चय किये हुए कार्य को स्थिरता के साथ करते हैं, वे संसार में विपुल कीर्ति और देव-दुर्लभ मान सम्मान प्राप्त करते हैं। ये सब गुण नास्तिकों में हरि-भक्ति विहीन पुरुषों में—कभी नहीं आ सकते। अतः इन सब सद्गुणों की जननी है—आस्तिकता। जिस प्रकार माता की गोदी में बच्चे निर्भय होकर खेलते हैं, उस प्रकार आस्तिकता का पल्ला पकड़ लेने पर संसार में सर्वत्र सुख ही सुख प्रतीत होता है। आस्तिकता पुरुष से कभी पाप कर्मों की

सम्भावना ही नहीं हो सकती क्योंकि वह तो सर्वत्र अपने श्रेष्ठ स्वामी को देख रहा है। बड़ों के सम्मुख पाप कर्म करने का साहस हो ही नहीं सकता। आस्तिक पुरुष को अपना निजी अहंकार भी नहीं होता। वह स्वयं निरहंकारी बनकर अपने स्वामी को सर्वत्र देखता है।

"ये सभी सद्‌गुण तथा इनके अतिरिक्त और भी जो श्रेष्ठ-श्रेष्ठ गुण हैं। जिनकी प्रशंसा श्रेष्ठ पुरुष सदा से करते आये हैं, इन सभी गुणों के एकमात्र धाम श्रीहरि ही हैं। उनमें ये गुण किसी साधन से, प्रयत्न करने से या कहीं अन्य स्थान से नहीं आये हैं। ये गुण उनके स्वाभाविक हैं। ये गुण उनसे न कभी पृथक् होते हैं, न किसी कारण से न्यून ही होते हैं। उन्हीं सर्वगुणधाम श्रीनिवास से आज मैं रहित हो गई हूँ। उनके स्वधाम पधारने से कुटिल कलिकाल ने मेरे ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है। उस कुटिल कलियुग के ही कुत्सित कार्यों के कारण मैं कातर और दुखी बनी हुई हूँ। मेरे दुःख का यही प्रधान कारण है।"

धर्म ने पूछा—"तो तुम्हें अकेले अपना ही सोच है या और किसी का भी सोच है ?"

पृथ्वी ने कहा—"मुझे अपना ही सोच होता, तो मैं इतनी दुखी न होती। मुझे तुम्हारा भी सोच है। तुम्हारे तीनों पैर कट गये, चौथा भी जर्जरित सा हो रहा है। यद्यपि तुम पहिले सभी देवताओं में श्रेष्ठ समझे जाते थे, किन्तु अब तुम्हें कोई पूछता ही नहीं। सर्वत्र तुम्हारा तिरस्कार देखकर मैं अत्यन्त ही दुखी हो रही हूँ। पृथ्वी पर यज्ञयागों पर पहिला सा प्रकार नहीं रहा। अतः देवताओं को भी यज्ञ भाग मिलना बंद हो

गया है। कुछ नास्तिक लोग स्वर्गीय पितरों को मानते ही नहीं, अतः पितरों का पिंड तर्पण नहीं करते। इससे पितर भी दुखी हैं। मनुष्य क्षीण आयु, क्षीण पुरुषार्थ वाले हो गये। ऋषि, मुनि मुझको छोड़कर महर्लोक चले गये। जहाँ मेरे एक-एक वनों मे हजारो ऋषि, मुनि, साधु, सन्त तपस्या किया करते थे, वहाँ अब एक भी देखने को नहीं मिलते। साधुओं के दर्शन दुर्लभ हो गये हैं। संसारी सुखों को ही सर्वत्र समझने वाले भौतिकवादी आध्यात्मिकता से चिढ़ते हैं, साधु-सन्तों से घृणा करने लगे हैं, उनका भी मुझे सोच है। सभी तो मेरे पुत्र हैं। सभी वर्णाश्रमधर्मी तो मेरे ही अङ्ग से उत्पन्न हुए हैं, मेरे ही ऊपर बड़े हुए हैं। सभी को आज कलिकाल के प्रभाव से प्रभावित देखकर, सभी के ऊपर अधर्म का आधिपत्य देखकर, मैं अधीर हो रही हूँ। फिर सबसे अधिक दुःख तो मुझे भगवान् वासुदेव के स्वधाम पधारने का है। जब इस मर्त्यलोक में मानुषी शरीर से मेरे ऊपर विराजमान थे, तब उनके अति सुकोमल चरणारविन्द मेरे ऊपर पड़ते थे, तब मेरे सम्पूर्ण शरीर में रोमाञ्च हो जाते, मैं कृतकृत्य बन जाती थी।"

धर्म ने पूछा—"देवि माँ! उन भगवान् के श्रीचरणों में ऐसी क्या विशेषता थी?"

धरणी बोली—"हे धर्म! तुम क्या भगवान् के चरणारविन्दों का महत्व जानते नहीं? देखो, ब्रह्मादि देवता सदा इसी

लिये तपस्या करते हैं, कि एक बार लक्ष्मी जी हमारी ओर कृपाकटाक्ष से देखभर लें। वहा त्रैलोक्य वन्दिता प्राणिमात्र से अभिलषित लक्ष्मी जी जिनके चरणारविन्दों का सदा श्रद्धा से सेवन करती हैं, उन्हें चंचला होने पर भी नहीं छोड़तीं, उन श्रीचरणों की महिमा मैं क्या वर्णन करूँ ? जिन चरणों में वज्र, अंकुश, ध्वाजा और कमल आदि के चिह्न सुशोभित थे, जब वे चरण मेरे ऊपर पड़ते तो मैं अपने सौभाग्य पर फूली न समाती। हाय ! मेरे उसी सौभाग्य का आज अन्त हो गया। आज श्यामसुन्दर मुझ अभागिनी को बिलखती छोड़कर स्वधाम पधार गये।

"जिन्होंने अपनी माया से ही मनुष्य वेष बना लिया था, स्वेच्छा विहारी होने पर भी जो यदुकुल में अवतार्ण हुए थे, जिन्होंने मेरे बढ़े हुए भार को हलका कर दिया था, जिन्होंने राजाओं के वेष में उत्पन्न हुए राक्षस और असुरों को मरवाकर मुझे निष्कंटक बनाया था, जिन्होंने सर्वत्र तुम्हारी विजय कराई, सब स्थानों में तुम्हारा आधिपत्य जमाया, उन पुरुषों त्तम के वियोग को सहन करने की सामर्थ्य किसमें है ? जिन्होंने अपनी रुक्मिणी, सत्यभामा आदि सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियों को गर्वित बना दिया था, अपने अत्यन्त ही कमनीय कटाक्षों द्वारा उनपर प्रेम प्रदर्शित करके, अपनी मन भावनी मनोहर मुस्कान द्वारा सभी के मन को हर के, उनके मान की वृद्धि की थी, जिनकी मिश्री से भी मधुर वाणी को सुनकर

कामिनी अपने धैर्य को छोड़ देती थीं, 'हे धर्म ! वे ही अनुपम सौन्दर्य के धाम घनश्याम मुझे छोड़कर चले गये।"

धर्म और पृथ्वी का यह सम्वाद हो ही रहा था, कि इसी बीच ब्रह्मावर्त क्षेत्र में प्राची सरस्वती के तटपर वहाँ महाराज परीक्षित् पहुँच गये।

इतना कहकर सूतजी कुछ देर के लिये ठहर गये। आगे की कथा का प्रसङ्ग वे सोचने लगे।

छप्पय

जलज सरिस जे चरन, योगिजन जिनकूँ ध्यावें।
जिनमें वज्र, त्रिशूल, कमल ध्वज शोभा पावें॥
दुखहर सुखकर पाद पद्म मम हिय जब परते।
रोमाञ्चित करि देह हर्ष हिय में अति भरते॥
आज उन्हीं तें हीन हैं, भाग्यहीन अबला भई।
श्री, ह्री, लज्जा कान्ति धृति, सुख समृद्धि बिनु है गई॥

महाराज परीक्षित् की कलियुग से भेंट

(७१)

धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक्।
यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत् ॥१
(श्रीभा० १ स्क० १७ अ० १ श्लो०)

छप्पय

जहाँ धरणि अरु धर्म, करें सम्वाद कष्टकर।
करत दिगविजय तहाँ, परीक्षित् पहुँचे नृपवर॥
बने वृषभवर धर्म, धेनु तनु धरणी धारे।
छद्म वेष में वृषल नृपति बनि तिनकूँ मारे॥
वृषभ एक पगतें व्यथित, कामधेनु लखि दुखित अति।
शूद्रहनैं थर-थर कपैं, करयो क्रोध बोले नृपति॥

समय की गति ऐसी दुर्निवार है, कि उसे हम जिन उपायों से मिटाना चाहते हैं, यदि उसका समय आ गया हो, तो वे ही उपाय उसको प्रवृत्ति में सहायक हो जाते हैं। काल

---

१ प्रयागराज के समीप प्राची सरस्वती के तट पर पहुँच कर महाराज परीक्षित् ने देखा, कि एक राज वेषधारी शूद्र हाथ में डंडा लिये हुए एक अनाथ गौ और बैल के जोड़े को बुरी तरह से मार रहा है।

स्वरूप श्रीकृष्ण को जिस समय जो कराना होता है, संयोग के रूप में वे वैसे ही बनकर आ उपस्थित होते हैं। लोग भ्रमवश ऐसा कह देते हैं—यह कार्य ऐसा होना तो न चाहिये था, अकस्मात् हो गया। सच पूछा जाय तो कार्य कोई भी कभी अकस्मात् नहीं होता। सब का समय बँधा हुआ है। अज्ञानी लोग भूल से पश्चात्ताप करते हैं, कि यदि हम ऐसा करते, तो ऐसा न होता। तुम कैसा भी करते, होता वैसा ही जैसा हुआ है। फिर तुम कैसा करने को स्वतंत्र भी तो नहीं, जो होना होगा वही तुम्हारे द्वारा होगा। मङ्गल तो एकमात्र मङ्गलायतन श्रीहरि को अपना सर्वस्व सौंपने में है।

गंगा यमुना के परम पावन पुण्य प्रदेश में, भगवती प्राची सरस्वती के समीप जहाँ धर्म और पृथ्वी बैल और गौ का रूप धारण किये हुए ये सब बातें कर रहे थे, वहाँ संयोग से अकस्मात् धनुष-बाण लिये सुवर्ण मंडित रथपर चढ़े हुए महाराज परीक्षित् आ पहुँचे। महाराज परीक्षित् ने देखा—एक शुभ्र शंख के समान, बगुले के पंखों के समान, हंस की भाँति सफेद रंग का बैल खड़ा है। उसके तीन पैर टूटे हुए हैं। उसके समीप एक अत्यन्त दुबली पतली, बछड़े से हीन, भूखी गौ खड़ी है। हाथ में डंडा लिए हुए, शिर पर किरीट मुकुट धारण किये हुए—राजाओं के सदृश वेष बनाये हुए—एक व्यक्ति उन दोनों को निर्दयतापूर्वक मार रहा है। उस व्यक्ति का वेष-भूषा तो भूपतियों का जैसा है, किन्तु देखने से वह द्विजेतर वृषल जान पड़ता है। देखते ही यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि यह वेष इसका यथार्थ नहीं, फिर उसका कार्य इतना नीच था, कि कोई भी धर्म को जानने वाला वीर पुरुष उसे क्षमा नहीं कर सकता था। बेचारे एक पैर के बल पर खड़े हुए असहाय बैल

पर वह बुरी तरह से प्रहार कर रहा था। बैल बार-बार मूत्र पुरीष त्याग करता, भयभीत होकर कातर दृष्टि से चारों ओर अपने किसी रक्षक को खोजता हुआ आँखों से आँसू बहा रहा था। यही दशा उस दीन दुबली गौ की थी। वह वृषल बार-बार अपने पैरों की ठोकर से उसे मारता, बेचारी गौ असहाय, बलहीन, रक्षक हीन होकर थर-थर काँपती, दुखी होकर रम्हाती और भूख के कारण, कातर होकर आँसू बहा रही थी।

जब दयालु महाराज परीक्षित् ने अपने राज्य में ही गौ बैल को इस प्रकार दुखी देखा, तब तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उस राजवेषधारी निर्दयी शूद्र पर उन्हें अत्यधिक क्रोध आया। महाराज परीक्षित् ने अपने रथ पर बैठे-बैठे ही, अत्यन्त कोप के साथ, मेघ गंभीरवाणी से, उसे डाँटते हुए कहना आरम्भ किया—"अरे, दुष्ट तू कौन है? खबरदार! अब तैंने यदि इस बैल और गौ पर प्रहार किया, तो मैं तेरे सिर के सैकड़ों टुकड़े करके फेंक दूँगा। नीच! तुझे लज्जा नहीं, बलवान होकर दीन दुर्बलों पर प्रहार कर रहा है। स्वयं स्वस्थ अंगवाला होकर, लूले लँगड़ों को मार रहा है? मेरे राज्य में रहकर भी ऐसी अनीति कर रहा है। मेरे आश्रय में रहने वाले प्रजा के लोगों पर कोई भी कभी इस प्रकार प्रहार नहीं कर सकता, कोई उन्हें इस तरह नहीं सता सकता। तू राजा नहीं है, पापी है। जैसे नाटक में नट राजा के से वस्त्र आभूषण पहिनकर नकली राजा का रूप रख लेता है, उसी प्रकार तैंने यह छद्मवेष धारण कर रखा है।

"तू समझता होगा, कि सम्पूर्ण संसार की रक्षा करने वाले भगवान् वासुदेव स्वधाम पधार गये। त्रैलोक्य विजयी गांडीव

धनुषधारी भगवान् के सखा, मेरे पितामह वीर शिरोमणि अर्जुन अब अवनि को परित्याग कर गये। अब चाहें जो मन मानी करे, अब कोई रक्षक नहीं। सो तेरा यह विचार व्यर्थ हैं। मेरे रहते हुए संसार में कहीं भी ऐसा अन्याय नहीं हो सकता। चाहे मनुष्यों से भरा नगर हो या निर्जन वन हो, सर्वत्र मेरा शासन है। शरीर से चाहे मैं सर्वत्र न जा सकूँ किन्तु मेरी आज्ञा तो सर्वत्र पहुँचती है। मेरा तेज तो सर्वत्र व्याप्त है। बस, अब तू खड़ा रह, मैं बिना प्राण लिये तुझे छोड़ने का नहीं।"

महाराज परीक्षित् के ऐसे ओज तेज पूर्ण वचनों को सुन कर वह छद्मवेषधारी राजा डर गया और वह वहाँ का वहीं पत्थर की मूर्ति की भाँति चुपचाप खड़ा हो गया। उसने अब गौ तथा बैल पर प्रहार करना बंद कर दिया। उस निर्दयी वृषल को अपने पाप से निवृत्त होते देखकर महाराज परीक्षित् अब उस एक पैर वाले बैल से बोले—"हे वृषभ! आप देखने में बड़े सुन्दर प्रतीत होते हैं। ऐसा सुन्दर बैल तो मैंने आज तक कभी देखा नहीं, इसी से मैं अनुमान करता हूँ, कि आप बैल का रूप बनाये कोई देवता हैं। देवता न भी हों तो भी आप साधारण बैल नहीं। बैल तो चार पैर वाले जीव होते हैं। आपके तो एक ही पैर है, फिर भी आप उस एक पैर से ही फुदक-फुदक कर चल रहे हैं। इससे मुझे दुःख हो रहा है। मेरे राज्य में इस प्रकार बैल के कोई तीन पैर काट ले, यह तो मेरे लिए लज्जा की बात है।

"आपके कानों की आकृति को देखकर मैं समझ रहा हूँ, कि आप मेरी बात भलीभाँति सुन रहे हैं और सुन ही नहीं

रहे हैं अक्षर-अक्षर समझ रहे हैं। इसी से मैं कहता हूँ कि जब तक पृथ्वी पर कुरुवंशीय राजाओं का शासन है, तब तक कोई

भी प्राणी दुखी नहीं हो सकता। कोई बली पुरुष निबलों को इस तरह सता नहीं सकता। आज पहिले पहिल ही मैं एक राजवेष

को लांछित करने वाले, वृषल के द्वारा आप जैसे श्रेष्ठ वृषभ को ताड़ित हुआ देख रहा हूँ। मेरे राज्य में गौपुत्र और वृषभ इतना दुखी! हाय! मुझे धिक्कार है। अस्तु। हे सुरभिनन्दन! अब तुम रोना बन्द करो। समझ लो, तुम्हारे दुःख दूर हो गये। तुम्हें जो दुःख सहना था, वह सह चुके। अब तो तुम्हें भय देने वाले को भय है। अब उसकी मरम्मत होगी।"

इस प्रकार धर्म को आश्वासन देकर महाराज परीक्षित फिर गौ माता से कहने लगे—"माँ कपिले! अब तुम अपने आँसू पोंछ डालो। तुम अपने दुःख का अब अन्त ही समझो। तुम्हें दुःख देने वाले के लिये यमराज के रूप में मैं आ गया हूँ। अब किसी का साहस नहीं, कि तुम्हारी ओर क्रूर दृष्टि से देख भी सके। यदि अब फिर कोई तुम्हारी ओर दुष्ट भाव से देखने का साहस करेगा, तो मैं उसकी दोनों आँखें निकाल लूँगा। तुम्हें ताड़ना देने के लिए जो एक पैर भी बढ़ावेगा उसके दोनों पैरों को काट कर मैं उसकी चलने की गति नष्ट कर दूँगा। यदि अब किसी ने तुम्हारे ऊपर बल के गर्व में हाथ उठाया तो मैं अंगदों सुवर्ण के बाजूबन्दों सहित, उसके बलवान हाथों को शरीर से अलग कर दूँगा। यह दुष्ट तुम्हें दुःख नहीं दे रहा है, मेरा अपमान कर रहा है। मेरे पुण्य को क्षीण कर रहा है। जिस राजा के राज्य में दुष्ट पुरुष प्रजा के उन लोगों को कष्ट पहुँचाते हैं, जो अपनी रक्षा करने में स्वयं असमर्थ हैं, तो उस असावधान राजा की समस्त कीर्ति, आयु, ऐश्वर्य और परलोक सम्बन्धी पुण्य आदि सभी सुकृत नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि राजा की असावधानी से ही दुष्टों को ऐसा करने का साहस होता है। राजा का परम धर्म यही है, कि जिस प्रकार भी हो सके, जिन उपायों से भी हो सके, उसे प्राणपन से प्रजा

का रक्षा करनी चाहिए, अपने शासन को ऐसा उग्र प्रचण्ड बना देना चाहिए कि नगर में, अरण्य में कहीं भी कोई अनाथ न सताये जायँ, कहीं भी दुर्बलों पर सबल प्रहार न करें।

"तुम्हें जिससे भय हुआ है, मेरे राजा रहते हुए भी तुम्हारा जिसने अपमान किया है, इस पापी को मैं अभी मारे डालता हूँ। अब इसकी रक्षा साक्षात् यमराज भी नहीं कर सकते।"

सूतजी ऋषियों से कह रहे हैं—ऋषियों! इस प्रकार महाराज परीक्षित्‌ने वृषभ रूपधारी धर्म को और धेनु रूपधारी धरणी को भाँति-भाँति से धैर्य बँधाया। मधुर और तेज पूर्ण वचन कहकर उनसे निर्भय होने को कहा। अब वे सोचने लगे—यह दुष्ट है कौन? यह इस गौ को मारता क्यों है? यह बैल भी साधारण बैल नहीं है। इसके तीन पैर नहीं हैं। यह भी बात नहीं कि अभी ही किसी ने काटे हों, यह तो एक पैर का ही मालूम पड़ता है। मेरे मन में ऐसा हो रहा है कि यह पशु नहीं है, कोई देवता है, मुझसे कुछ कहना चाहता है। अतः मैं इसी से इस पापी का परिचय पूछूँ। इसे तो मैं अभी मार ही डालूँगा, किन्तु इसके परिवार में और भी इसी प्रकृति के लोग हुए, तो परिचय पाते ही अभी जाकर उन सब का भी मैं बधकर डालूँगा। मैं नहीं चाहता मेरे राज्य में एक भी क्रूर कर्मा पुरुष रहे। यही सब सोच समझकर महाराज परीक्षित् ने उस वृषभरूपी धर्म से पूछने लगे।

राजा ने पूछा—"हे सुरभिनन्दन! मैं आपकी आकृति देखकर अनुमान लगा रहा हूँ, कि आप मेरी सभी बातों को सुन और समझ रहे हैं। मैं सर्व प्रथम आपका ही परिचय

जानना चाहता हूँ। आप कौन हैं? बैल तो सदा चार पैर वाले होते हैं, आपके तीन पैर कहाँ गये? आप जन्म से ही एक पैर वाले हैं या पीछे आपके तीन पैर किसी ने काट दिये! यदि ऐसा हुआ हो, किसी दुष्ट ने दुष्टतावश आपके पैर काटे हों, तो तुम उस कुल-कलंक का मुझे नाम बताओ। मैं अभी उसे इस पाप का फल चखाऊँगा, अभी उसे नरक का दरवाजा दिखाऊँगा। किसी ने भी आपके पैर काटे हों। उसने आपके पैर नहीं काटे, किन्तु पार्थकुल की कमनीय कीर्ति को कलंकित किया है। तुम उस दुष्ट का हमें नाम बता दो। ये पैर तुम्हारे आज के कटे हुए नहीं हैं। क्या इसी दुष्ट ने पहले कभी इनको काटा था क्या? तुम डरो मत, मेरे सम्मुख यह पापी तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। अब यह तुम्हारी ओर दृष्टि उठा कर भी नहीं देख सकता। मेरा तो काम ही दुष्टों का दमन करना और पापियों को दंड देने का है। दूसरों को दुःख देनेवाला चाहे देवता ही क्यों न हो, मैं उसे पृथ्वी पर जीवित नहीं छोड़ सकता। राजा का यही परम धर्म है, कि अपने-अपने वर्ण और आश्रम के धर्मों में स्थिर प्रजाजनों का पुत्र की भाँति पालन करे। घोर आपत्ति के समय में तो धार्मिक मर्यादायें शिथिल हो ही जाती हैं, किन्तु आपत्ति न रहने पर जो कुमार्ग का अनुसरण करता है, उसे दंड देना राजा का कर्तव्य हो जाता है। इसलिये पहिले आप अपना परिचय दें और फिर इस पापी दुष्ट पुरुष का भी नाम स्थान आदि सब बतावें।'

महाराज परीक्षित् इतना कहकर चुप हो गये। वह राज वेषधारी वृषल सम्मुख ही भयभीत हुआ खड़ा था। गौमाता ने आँसू बहाने बन्द कर दिये, किन्तु अभी वह पूर्णतया निर्भय

दिखाई देती नहीं थी, उसे आन्तरिक भय बना ही हुआ था। बैल एक पैर से खड़ा-खड़ा राजा की ओर देख रहा था और उनकी सभी बातों को बड़े ध्यान पूर्वक सुन रहा था। जब राजा ने सभी प्रश्न बैल को ही लक्ष्य करके किये, उसी से कष्ट देने वाले नृप वेषधारी शूद्र का और अपना परिचय पूछा, तब वह वृषभ वेषधारी धर्म राजा को बड़ी गंभीरता के साथ धर्म पूर्वक उत्तर देने लगा।

सूतजी कहते हैं मुनियो! राजा परीक्षित् में और धर्म में जो अत्यन्त ही मनोहर धर्म को बढ़ाने वाला शिक्षाप्रद सम्वाद हुआ, उसे मैं आगे आपके सम्मुख कहूँगा। उसे आप सब अत्यन्त ही एकाग्रचित्त से, बिना व्यग्रता प्रकट किये हुए, सावधान होकर श्रवण करें। उसे सुनने से फिर किसी को कलि के अधर्म का भय न रहेगा।

छप्पय

अरे दुष्ट! तूँ कौन स्वयं बलवान बन्यो है।
बल हीननि कूँ हनै, ठहर, यह तीर तन्यो है॥
पुनि पूँछें गोतनय दुखित कस तीन पैर ते।
राजवेष में वृषल हनहि कहु कौन बैर तें॥
जो हो कारन कष्ट को, वेगि वृषभ बतलाइ दो।
दुष्ट मारि बदलो लऊँ, सब सच-सच समझाइ दो॥८

धर्म और परीक्षित् सम्वाद

(७२)

तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानमनाथवत् ।
दण्डहस्तं च वृषलं ददृशे नृपलाञ्छनम् ॥[1]

(श्रीभा० १ स्क० १७ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

धर्म कहें हे देव ! दुःख देवे को काकूँ ।
होवे कारन एक बताऊँ हौं तब ताकूँ ॥
ईश्वर, कर्म, स्वभाव भिन्न मुनि भिन्न जनावें ।
स्वयं समझ लें आप काहि दुःख बीज बतावें ॥
कहें नृपति—तुम धर्म हो, धर्म बिना अस को कहे ।
अघकारी के पाप कहि, सूचक हू अधगति लहे ॥

पापी और पुण्यात्मा की परीक्षा दुःख के समय ही होती है। जिसने सदा पाप ही किये हैं, जिसकी प्रवृत्ति पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण पाप में ही जाती है, उन पर यदि विपत्ति आ जाती है, तो अनेक झूठ बोल कर, बहुतों को अपने

---

१ वृषभ रूप धारी धर्म ने जब अपने ऊपर अत्याचार करने वाले का नाम न बताया तब महाराज परीक्षित् बोले—"हे धर्मज्ञ ! प्रतीत होता है, कि आप वृषभ का रूप धारण किये हुए साक्षात् धर्मदेव है

दुःख का व्यर्थ ही कारण बता कर, अपने को दुःख से मुक्त करने का प्रयत्न करता है। पापी पुरुष दुःख का कारण अपने पूर्वकृत पापों का न समझ कर दूसरों को मानते हैं और उनसे द्वेष करने लगते है। जो धर्मात्मा हैं, जिनकी प्रवृत्ति भूलकर भी पाप कर्मों की ओर नहीं जाती, उन्हें चाहे कोई साक्षात् ही कष्ट क्यों न दे, वे उसे अपने कष्ट का कारण नहीं मानते। वे पूछने पर कह देते हैं—'भैया कोई पुरुष किसी को सुख दुःख नहीं दे सकता। मनुष्य अपने-अपने किये कर्मों को ही भोगता है। मैंने पूर्व जन्म में इनका कोई अपकार किया होगा, उसी का इन्होंने बदला चुकाया है। इन्होंने तो मेरे ऊपर कृपा ही की जो मुझे ऋण से मुक्त कर दिया। मैंने अपने किये कर्म का फल भोग लिया।' ऐसा कहने से प्रहार करने वाले पर—दुःख देने वाले पर—इन धर्मात्मा पुरुष का जितना भी पाप है सब उसी के पास चला जाता है, किन्तु जो ऐसा न कहकर दुःख देने वाले की निन्दा करते हैं, उसका अपमान करते हुए उसके अपकार में प्रवृत्त होते हैं, तो वही पाप निन्दा करने वाले पर आ जाता है। इसलिये धार्मिक पुरुषों की नीति यह रहती है, कि किसी के पापों को प्रकाशित न करना चाहिये। अपने ऊपर आये दुःखों को अपने भोग समझ कर सहन कर लेना चाहिये और यह मन में दृढ़ धारणा

है। धर्म के बिना इतनी विशुद्ध धर्म वाली बात कौन कर सकता है। शास्त्रकारों का मत है, कि अधर्म करने वालों के पापों को जो सबके सम्मुख सूचित करता है, तो जो नरकादि-लोक अधर्म करने वाले को होते हैं, वे ही उसके अधर्मों को प्रकट करने वाले सूचक को भी होते हैं।"

कर लेनी चाहिये, कि सभी को अपने प्रारब्धानुसार दुःख सुख मिलते हैं। सुख दुःख देने वाले स्वयं दुःख सुख नहीं हैं। वे तो केवल निमित्त मात्र हैं।

जब महाराज परीक्षित् ने एक पैर वाले वृषभ रूपी धर्म से बार-बार अपने दुःख देने वाले का नाम और परिचय पूछा, तो वह एक पैर वाला बैल मनुष्यों की जैसी वाणी में कहने लगा—"प्रभो! आपने मुझे अभयदान दिया, मैं इस का आभारी हूँ। संसार में जितने भी अन्नदान, भूमिदान, गोदान, रत्नदान, कन्यादान आदि बड़े-बड़े दान हैं, उन सब दानों से श्रेष्ठ अभयदान ही शास्त्रकारों ने बताया है। आप ने मुझ दीन दुःखी को अभयदान देकर कोई आश्चर्य का काम नहीं किया। यह आपके अनुरूप ही है, क्योंकि आपका जन्म भरतवंश में हुआ है। आप पुण्यात्मा पुण्यश्लोक प्रातःस्मरणीय पांडवों के पौत्र हैं। गुणों में आप उनके अनुरूप ही हैं। दीन दुखियों के दुःख दूर करना यह तो आपके कुल के सभी नरपतियों का प्रधान कार्य हो रहा है। आपके पितामह ने ब्राह्मण की गौओं की रक्षा के निमित्त अपने बड़े भाई के साथ की हुई प्रतिज्ञा तक को भङ्ग किया था। पांडवों ने आपस में द्रौपदी के कारण यह समझौता कर लिया था, कि जो भाई जिस समय तक एकान्त में द्रौपदी के साथ रहे, यदि उस बीच में कोई दूसरा भाई वहाँ पहुँच जाय, तो उसे १२ वर्ष तक वन वास करना पड़े। एक दिन किसी ब्राह्मण की गौओं को चोर हर कर ले जा रहे थे। ब्राह्मण ने आकर अर्जुन से सहायता के लिए प्रार्थना की। उस समय अर्जुन का धनुष वहाँ रक्खा रहता था, जहाँ धर्मराज द्रौपदी के सहित एकान्त में थे। ब्राह्मण के विलाप की रक्षा को प्रधान समझकर निर्भय होकर वे

स्थान में चले गये और शीघ्र ही अपना धनुष लेकर ब्राह्मण की गौओं को दस्युओं से छुड़ा लिया और उन्हें यथोचित दंड दिया। तदनन्तर अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के निमित्त वे १२ वर्षों तक वन और जंगलों में घूमते फिरते रहे।

"जिस वंश में दोनों की रक्षा ऐसी तत्परता से की जाती हो, जिस वंश के लोगों का व्रत ही गौ ब्राह्मणों तथा आश्रितों की रक्षा करना हो, उस वंश के चक्रवर्ती महाराज के लिये ऐसा अभयदान देना कोई असाधारण कार्य नहीं है। महाराज, आप के पितामहों ने अपने सदाचार और सद्‌गुणों से जगत् पति भगवान् वासुदेव को ऐसा सन्तुष्ट कर लिया था, कि भगवान् ने उनका सारथ्य, दौत्य तथा भृत्य तक का कार्य किया। आप उसी वंश की कीर्ति बढ़ाने वाले यशस्वी नरपति हैं। आपने मेरा कष्ट दूर किया, यह आपने अपनी कुल परम्परा गत मर्यादा का ही अनुसरण किया।"

महाराज परीक्षित् बोले—"वृषभ देव! तुम्हारी वाणी बड़ी मधुर है, तुमसे बातें करने को चित्त बहुत अधिक उत्सुक है। तुम्हारे अत्यन्त कोमल, सुसंस्कृत और मनोहर वाक्यों से मेरा मन स्वतः ही आकर्षित हो रहा है। मैं तुमसे बातें तो पीछे करूँगा। पहिले तुम अपने दुःख का कारण मुझे बता दो। किसने तुम्हें इस प्रकार विरूप कर दिया, किस पापी ने तुम्हारे साथ ऐसा अन्याय किया है? मैं उसका नाम सुनना चाहता हूँ।"

वृषभ बोले—"महाराज! यदि दुःख देने वाला कोई एक निश्चित हो, तो मैं उसका नाम भी बताऊँ। किन्तु इस विषय में तो बड़ा मतभेद है।"

यह सुनकर महाराज अत्यन्त आश्चर्य के साथ कहने लगे—"आप कैसी बात कह रहे हैं? आपको कोई दुःख दे और आप उसको न पहिचानें, यह कैसे हो सकता है? उसका निर्देश कीजिये कि इसने मुझे दुःख दिया।"

वृषभ रूपी धर्म बोले—"राजन्! मैं किसे दुःख का कारण बताऊँ? मान लो एक आदमी हमें तलवार से मार रहा है, तो इसमें किसे दुःख देने वाला कहें, उस मनुष्य को या तलवार को?"

राजा बोले—"वह मनुष्य ही दुःख देने वाला हुआ, यह तो प्रत्यक्ष ही है। तलवार तो साधन है, दुःख तो मनुष्य दे रहा है।"

वृषभ बोले—"हाँ, तो फिर दोषी मनुष्य का हाथ है, कि जिससे मार रहा है, या आखें हैं जिनसे देखकर मारता है, या बल है, कि जिसके द्वारा प्रहार कर रहा है, या मन है, कि जिसकी सहायता से इन्द्रियों को सावधान करके मारने के कार्य में वह प्रवृत्त हो रहा है, या आत्मा है जिसके अधिष्ठान से समस्त कार्य होते हैं?"

राजा यह सुनकर विचार में पड़ गये और सोच समझकर बोले—"भाई, यह तो शास्त्रीय विषय रहा। ऋषि, मुनि तथा आप्त पुरुषों ने जो भी कारण बताया हो, उसे ही दुःख का बीज समझना चाहिये।"

वृषभ रूपी धर्म बोले—"राजन्! एक मुनि हो और इस विषय में उनका एक ही मत हो, तब तो मैं आपको निश्चित उत्तर दे भी सकता था, जीवों के क्लेश के बीज को बता भी सकता था, किन्तु मुनि तो अनेक हैं और इस विषय में सभी

के भिन्न-भिन्न मत हैं। वह मुनि, मुनि ही नहीं कहलाता जिसका मत भिन्न न हो। देखिये किन्हीं का तो मत है, कि सुख दुःख आत्मा के द्वारा ही होता है। दूसरा कोई भी अपना शत्रु मित्र नहीं। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है तथा आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। उनकी दृष्टि में आत्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। किन्हीं-किन्हीं का मत है, कि जन्म के समय मनुष्य जैसी लग्न में उत्पन्न होता है उसी के अनुसार ग्रह उसे दुःख सुख देते रहते हैं। बुध, बृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शनि, राहु, केतु आदि ग्रह जब शुभ स्थानों में पहुँच जाते हैं, तो मनुष्य को सुख होता है यदि अशुभ स्थानों में पहुँचे, क्रूर ग्रहों की दृष्टि हो गई, तो वे दुःख देते हैं, अतः दैव ही दुःख सुख का कारण है।

किन्हीं-किन्हीं का निश्चित मत है, कि दुःख का कारण कर्म है। इस जन्म में या पूर्व जन्मों में हमने शुभ कर्म किये होंगे, तो सुख प्राप्त होगा, बुरे कर्म किये होंगे, तो दुःख प्राप्त होगा। मनुष्य कर्मसूत्र में बँधा हुआ है। कर्म के अतिरिक्त ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा कुछ नहीं, अतः उनके मत में कर्म ही प्रधान है।

"किन्हीं का मत है, कि यह सब स्वभाव वश हो रहा है। इसमें ईश्वर आदि किसी की आवश्यकता नहीं। जैसे गरमी, जाड़ा वर्षा, प्रातः, मध्याह्न, सायं, भोजन, निद्रा, सन्तानोत्पत्ति आदि सब स्वभावानुसार होते हैं। सभी कार्यों को मनुष्य प्रकृति वश करता है, उसी प्रकार दुःख भी स्वभाव से होते हैं। कोई कहते हैं, कि स्वयं जड़ प्रकृति कुछ करने में समर्थ नहीं। इसका नियामक ईश्वर है। यह जगत् ईश्वरेच्छा पर ही अवलम्बित है। क्लेश, कर्म, विपाकादि से रहित एक पुरुष विशेष है, उसी को ईश्वर कहते हैं। वही सुख दुःख का स्वामी है।

तो यह निन्दक उस पापी के पापों में साझीदार हो जाता है जो नरक आदि पापियों के होते हैं, वहो पापों को प्रकट करने वाले निन्दकों को होते हैं। अतः सिद्धान्त की बात तो यह है कि किसके पाप पुण्यों को वाणी से कहने से, कहने की क्या, मन से भी चिन्तन न करे। यदि न रहा जाय, स्वभाव वश किसी के सम्बन्ध में कुछ सोचना या कहना ही पड़े, तो दूसरे के पुण्य कर्मों को ही सोचे। पुण्यात्माओं की प्रशंसा करे। पापियों की बात मन में भी न आने दे। मन में आ भी जाय, तो दूसरों पर कभी भूलकर भी प्रकट न करे।

"अब रही जीवों के क्लेश के बीजवाली बात, सो इस विषय में मैंने विचार किया है। आपने आत्मा, दैव, कर्म, स्वभाव, ईश्वर इन सबको दुःख-सुख का कारण बताते हुए अन्त में एक अचिन्त्य शक्ति को भी कारण बताया है। मेरी बुद्धि में तो यही बात जँच रही है। मैं तो सब सोचकर समझकर इस निर्णय पर पहुँचा हूँ, कि परमेश्वर की माया की गति प्राणियों के मन-वाणी का विषय नहीं है।"

महाराज की बात सुनकर धर्म बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"राजन्! आपने अनिर्वचनीय माया परे तत्व बताया सत्य ही कहा। मैं धर्म हूँ। और दुःख का कारण, जो आप कहा उससे मैं सहमत हूँ। अब आप यह बतावें कि मेरे ये तीन पैर किसने काट लिए ?"

महाराज परीक्षित् ने कहा—"धर्मदेव! अब मैं सब समझ गया। आपके तप, शौच, दया और सत्य—ये चार चरण हैं। सत्ययुग में जब प्राणियों में ये चारों पूर्ण रूप से विद्यमान रहते हैं, तब आप सर्वाङ्ग रूप से स्वस्थ और सुखी होकर इस

अवनि पर विराजते हैं। अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से जब काल कर्मानुसार सत्ययुग का अन्त हो जाता है और त्रेतायुग का प्रारम्भ होता है, तब आपका एक तप रूपी पैर नष्ट हो जाता है, धर्म के तीन पैर रह जाने से ही उस युग को त्रेता कहते हैं। जब त्रेतायुग का भी अन्त हो जाता है तब आपका दूसरा शौच—पवित्रता—रूपी पैर नष्ट होने से आप दो पैर के ही रह जाते हैं। इसीलिए त्रेता के अनन्तर के काल को द्वापर कहते हैं। जब द्वापर युग भी बीत जाता है और अधर्म के परिवार वाले गर्व, आसक्ति और मद आदि का चारों ओर प्रभाव छा जाता है, तो आपका दया रूपी तीसरा पैर भी नष्ट हो जाता है। कलियुगी सभी प्राणी दया हीन हो जाते हैं। कलियुग में केवल आप अपने एक ही सत्यरूपी क्षीण पैर से खड़े रहते हैं। अन्त में जब वह भी टूट जाता है और आप पैर हीन हो जाते हैं, तब भगवान् तुम्हारे ऊपर दया करके अवतार धारण करते हैं और तुम्हारे चारों पैरों को फिर यथावत् बना देते हैं। इसीलिए घोर कलियुग के पश्चात् एक साथ शुद्ध सत्ययुग आ जाता है।

धर्म बोले—"महाराज! हाँ, आपने यह तो यथार्थ बात कही। अब इस प्रहार करने वाले को भी बताइये, यह कौन है? यह इतना मोटा ताजा क्यों हो गया है?"

राजा बोले—"अब धर्मराज! तुम तो स्वयं कहने से डरते हो, मुझसे ही कहलाते हो। स्वयं पापी का परिचय न देकर

मुझसे पूछते हो। अस्तु, आप पूछते ही हैं तो मैं बताता हूँ। यह अधर्म का मित्र कलियुग है। यह इतना मोटा और पुष्ट असत्य से हो गया है। कलियुग में बिना असत्य के कोई मोटा नहीं बन सकता। यह तुम्हारे सत्य रूपी पैर को भी नष्ट करना चाहता है और अन्त में कर भी देगा। उन अचिन्त्य शक्ति सर्वेश्वर को जो करना कराना होगा, उसे अवश्य करेंगे करावेंगे। उसे कोई भी पुरुष किसी भी प्रयत्न के द्वारा अन्यथा नहीं कर सकता।"

धर्म बोले—"हाँ, महाराज! बात यही है। इसीलिये मैं चुपचाप बैठा हूँ, कि किसी के भी दिन सदा एक से नहीं रहते। आज इसका समय है, इसके द्वारा मैं पीड़ित हो रहा हूँ। फिर कभी मेरा भी समय आवेगा। दुःख तो धैर्य से ही कट सकता है। अधीरता से दुःख दूर न होकर और बढ़ता है। अब आप इस गौ को बताइये—यह कौन है?"

महाराज परीक्षित् बोले—"इन्हें तो मैं जानता हूँ। ये तो श्यामसुन्दर की प्रेयसी भगवती भू-देवी हैं। भगवान् वासुदेव ने दुष्ट राजाओं का विनाश कराकर इनके बढ़े हुए भार को उतारा है। जब इनके श्रीअङ्ग पर श्रीवृन्दावन विहारी के पाद-पद्म पड़ते थे, और उनके वज्राङ्कुशादि चिह्नों से ये चिह्नित हो जाती थीं, तब इनकी अपूर्व शोभा होती थी। ये अपने सौभाग्य पर अत्यन्त गर्व करती थीं। आज ये उन्हीं सुकोमल,

परम शोभा युक्त, अरुण चरणों से रहित होकर अशरण सी बनी हुई हैं। आज ये दुःख से दुखी होकर अश्रु बहा रही हैं। इनको अब रह-रह कर यही सोच हो रहा है, कि धर्म की दुर्दशा हो जाने से सदाचारी धर्मात्मा राजा तो मुझे छोड़कर चले जायँगे। मेरे ऊपर दस्युधर्मी, राजा का वेश बनाये ब्राह्मण द्रोही, गौ-घातक, पापी, अधर्मी, क्रूर पुरुष राज्य करेंगे।"

धर्म बोले—"राजन्! आप धर्मात्मा हैं। पांडवों के पौत्र हैं, गर्भ में ही आपको भगवान् वासुदेव की अहैतुकी कृपा प्राप्त हो चुकी है। आप अपने योगबल से सब कुछ जानने में समर्थ हो सकते हैं। आपने इस तीनों का यथार्थ रूप पहिचान लिया। अब आप जैसा उचित समझें वैसा करें।"

धर्म की ऐसी बात सुनकर महाराज परीक्षित् धर्म और पृथ्वी को सान्त्वना देते हुए बोले—"आप दोनों अब तनिक भी न घबड़ावें। मेरे रहते हुए अब आपका कोई भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता। आपको सभी प्राणियों से निर्भय हो जाना चाहिए। मैं अब आपके इस शत्रु कलियुग को इसी समय तीक्ष्ण तलवार लेकर मारता हूँ। आज मैं इसके सिर को धड़ से अलग करके आप दोनों को तथा साधु पुरुषों को सुखी कर दूँगा। संसार से कलियुग का अस्तित्व ही मिटा दूँगा। जब कलियुग ही न रहेगा, तब फिर अधर्म का प्रचार ही न होगा। अधर्म ही न होगा, तो किसी को दुःख भी न होगा। इसलिये अब इसका अन्त कर देना ही उचित है।"

इतना कहकर महाराज ने उस राजा का वेष बनाये शूद्र को मारने का ही निश्चय कर लिया।

छप्पय

हरि की माया अमित न पहुँचे मन अरु बानी।
शौच, दया, तप, पाद बिना तुमरे मन ग्लानी ॥
गौ रूपी के धरनि पद्म पद प्रभु के सोचति।
चरण चिह्न तें रहित दुखित ह्वै अश्रु विमोचति ॥
धरहु धीर धरणी ! धरम ! क्षत्रिय हौं शर धनु धरूँ।
नृप लांछन कलि क्रूर को, सिर धड़तें न्यारो करूँ ॥

महाराज परीक्षित् द्वारा कलि को अभयदान

(७३)

न वर्तितव्यं तदधर्मबन्धो,
धर्मेण सत्येन च वर्तितव्ये।
ब्रह्मावर्ते यत्र यजन्ति यज्ञै,
र्यज्ञेश्वरं यज्ञवितानविज्ञाः॥१

(श्रीभा० १ स्क० १७अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

यों कहिकें भूपाल तीक्ष्ण तरवारि निकारी।
ज्यों आगे कूँ बढे तुरत कलि युक्त विचारी॥
पापी पैरनि परयो कृपा की भिक्षा माँगी।
धरी म्यान में खड्ग दया दुखिया लखि लागी॥
कहें क्रूर! यह का करै, काहे मम पग सिर धरै।
असि कुरुवंशी बीर की, नहिं शरणागत पै परै॥

दया सत्पात्र पर दिखाई जाय, तो उसका फल शुभ होता है। कुपात्र पर की हुई दया अन्त में दुःखदायिनी ही सिद्ध होती है। सर्प पर दया करके उसे दूध पिलाओ, उसका विप ही बढ़ेगा।

---

१ जब कलियुग डर के कारण महाराज परीक्षित् के पैरों पर पड़ गया तब उसे अभय देते हुए महाराज बोले—"हे अधर्म के मित्र! तू मेरी

बिच्छू को दयावश जल से निकालो, वह डंक मार ही देगा। मतवाले हाथी के घावों को पोंछो, वह प्रहार करेगा ही, चूहे पर दया करके उसे अन्न खिलाओ, वह काटेगा ही। दुष्टों को दया करके आश्रय दो, वे बिना दुष्टता किये मानेंगे नहीं, क्योंकि ये सब अपने स्वभाव से विवश हैं। जैसे उपकार करने वाले के प्रति भी क्रूरकर्मा प्राणी अपकार करने को विवश हैं, उसी प्रकार धर्मात्मा दयावान् पुरुष भी दया करने को विवश हो जाते हैं। उनका चाहे कोई कैसा भी बड़े से बड़ा अपराध करे, किन्तु जब वह दीनभाव से उनकी शरण ग्रहण कर लेता है, तब फिर उसे वे अभयदान दे देते हैं। फिर उस पर प्रहार नहीं करते हैं।

इस बात के अनेकों उदाहरण हैं कि ऐसे लोगों ने अवसर पाने पर फिर दुष्टता की है, यह सब जानते हुए भी धर्मात्मा लोग कह देते हैं—जब वह अपनी दुष्टता नहीं छोड़ सकता, ऐसा करने के लिए वह विवश हो जाता है, तब फिर हम अपने धर्म को क्यों छोड़ें ? जो जैसा करेगा वैसा भरेगा। उसकी करनी उसके साथ, हमारी करनी हमारे साथ।

दुष्ट पुरुष निर्बलों पर तो अपना बल पौरुष दिखाते हैं। उनके सामने तो अपना प्रभाव जमाते हैं, किन्तु किसी को

शरण आ गया है, अतः मैं तुझे मारता नहीं हूँ, किन्तु गंगा यमुना के बीच की जो परमपावन भूमि है, जहाँ सत्य और धर्म के ही रहने का स्थान है वहाँ तू मत रहना। क्योंकि इसी देश से यज्ञों की विधि को जानने वाले बड़े-बड़े ऋषि, महर्षि, नाना भाँति के यज्ञों द्वारा भगवान् यज्ञ पुरुष की आराधना किया करते हैं।"

अपने से बलवान् समझते हैं, तो उसके सम्मुख दीन हो जाते हैं। उस समय की उनकी दीनता, भक्तों की जैसी यथार्थ दीनता नहीं होती, वह तो उनकी एक नीति है, स्वार्थ साधने की एक कला है, कछुआ की जैसी समाधि है, बगुला का जैसा ध्यान हैं। उनकी वाणी में जो मधुरता है, वह स्नेह की मधुरता न होकर, व्यापारी बनिये की मधुरता की भाँति—स्वार्थ-कार्य सिद्धि की—बनावटी मिठास है। जहाँ स्वार्थ सिद्ध हुआ, फिर लाला जी मुँह से भी न बोलेंगे, फिर अपना वैभव दिखावेंगे।

जब महाराज परीक्षित् ने पृथ्वी और धर्म को इस प्रकार समझाकर उन्हें सान्त्वना दी, तो वे कुछ-कुछ प्रसन्न हुए। अब चक्रवर्ती वीरशिरोमणि महाराज उस राजवेष धारी दुष्ट कलि-युग की ओर बढ़े। उन्हें उस समय उस पर बड़ा क्रोध आ रहा था। वे उसे मार डालना चाहते थे, इसीलिए उससे बिना कुछ पूछे ही अपनी तीक्ष्ण तलवार निकाल कर उसे मारने को उद्यत हो गये। कलियुग ने जब देखा कि यह धर्मात्मा राजा तो मुझे मार डालने पर ही उतारू है, इसके सम्मुख मेरी वीरता नहीं चल सकती, इसे मैं धर्म युद्ध में पराजित नहीं कर सकता तब उसने एक नई चाल चली। तुरन्त ही उसने अपने बहुमूल्य वस्त्राभूषण, किरीट, मुकुट आदि राज चिह्न उतार कर फेंक दिये। मुख में तृण दबाकर, वस्त्र से अपने दोनों हाथों को बाँधकर, शीघ्रता के साथ महाराज के चरणों में जाकर गिर पड़ा और दीनता से कहने लगा—"हे धर्मात्मा

राजन्! मैं आपकी शरण हूँ, मेरी रक्षा करो; मुझे जीवन दान दो।"

अब तो महाराज परीक्षित् बड़े असमञ्जस में पड़े। धर्म

और पृथ्वी के साथ किये हुए इसके दुर्व्यवहार को देखकर तो वे क्रुद्ध हुए थे, किन्तु जब वह उनकी शरण में आ गया, तब वे सोचने लगे—अब क्या करूँ ? जो पुरुष दीन होकर दया की भिक्षा माँग रहा है, उस पर धर्म का जानने वाला मैं प्रहार कर ही कैसे सकता हूँ और यदि इसे इस समय मारता नहीं, तो राज्य में फिर यह ऐसा ही अधर्म करेगा। इसलिये ऐसा उपाय करना चाहिए, कि शरणागत का वध भी न हो और इस दुष्ट का यहाँ प्रभाव भी न जमने पावे। यही सब सोच समझकर अपनी खड्ग को म्यान में रखते हुए महाराज उससे बोले।

उस समय महाराज ने क्रोध की मुद्रा त्याग दी थी। कलियुग को पैरों पर पड़ा देखकर वे हँसते हुए कहने लगे—"अरे भाई वृषल ! अब तू क्यों काँप रहा है ? जब तैंने एक भरत-वंशी वीर की शरण ग्रहण करली, तब तुझे किस बात का भय है ? मैं धर्मात्मा अभिमन्यु का पुत्र और गांडीव धनुषधारी महाराज अर्जुन का पौत्र हूँ, जो सदा शरणागतों की रक्षा में तत्पर रहते थे। जिनके सभी अस्त्र-शस्त्र शरण में आये, भय भीत, पैरों पर पड़े, दया की भिक्षा माँगने वाले पुरुषों के सम्मुख कुण्ठित हो जाते थे। अब तुझे अपने प्राणों का तो भय नहीं करना चाहिये किन्तु तुझे मेरी एक आज्ञा माननी होगी।"

कलियुग ने डरते-डरते पूछा—"हे नरदेव ! आप आज्ञा करें, मेरे लिये क्या आदेश होता है ? जब मैंने आपकी शरण ही ग्रहण की है, तब आपकी सभी आज्ञाओं का मैं अक्षरशः पालन करूँगा।"

महाराज ने अपने पैरों से कलियुग को उठाया। वह सिर नीचा किये भयभीत की भाँति महाराज के सम्मुख हाथ जोड़े

हुए खड़ा था, उस डरे हुए दुष्ट से महाराज बोले—"देखो भाई! मैं तुम्हारे प्राण तो लेता नहीं, किन्तु तुम्हें मेरे राज्य में नहीं रहना चाहिए।"

कलियुग ने दीनता के साथ कहा—"क्यों प्रभो! आप तो दीनप्रतिपालक हैं, सभी प्रजा के लोग आपकी छत्रछाया में रहकर निर्भय बने हुए हैं, मुझे आप अपने शासन से पृथक् क्यों कर रहे हैं?"

महाराज बोले—"देखो भैया! मैं असमर्थ होकर तुम्हें नहीं निकाल रहा हूँ, किन्तु मैं तुम्हारे स्वभाव को जानता हूँ। तुम्हारी अधर्म के साथ घनिष्ठता है। अधर्म का धर्म से वैर है। मेरे राज्य में सर्वत्र धर्म का ही प्रचार है। तुम दोनों मिल कर धर्म को नीचा दिखाने का प्रयत्न करोगे, तुम में संघर्ष होगा। मुझे धर्म का पक्ष लेना पड़ेगा, तुम न मानोगे तो तुम्हें फिर मारना ही पड़ेगा। इसलिये तुम मेरे राज्य से बाहर हो जाओ।"

कलियुग ने कहा—"नहीं महाराज, मैं किसी से द्वेष न करूँगा, चुपचाप एक ओर पड़ा रहूँगा।"

कलियुग की बात सुनकर उसे झिड़कते हुए महाराज बोले—"चुपचाप कैसे पड़ा रहेगा? तू और चुपचाप पड़ा रहे, यह असम्भव है? घर के भीतर रहकर भी बिल्ली चूहों पर प्रहार न करे, यह हो नहीं सकता। तेरे रहने मात्र से ही सब पर तेरा आधिपत्य हो जायगा। प्रजा के सर्वसाधारण लोग तो निर्बल होते ही हैं, उनका मुझे उतना भय नहीं, भय है राजाओं का। यदि राजाओं के हृदय पर तैंने, शनैः शनैः अपना प्रभाव जमा लिया, तब तो सर्वत्र तेरा आधिपत्य हो जायगा, क्योंकि जैसा राजा हो जाता है वैसी ही प्रजा हो जाती है।"

कलियुग ने कहा—"महाराज ! कहाँ इतने-इतने वीर पराक्रमी राजा, कहाँ मैं अकेला ? मैं उनका क्या बिगाड़ सकता हूँ।"

महाराज हँसे और बोले—"अरे भैया, मैं सब तेरी चालाकी जानता हूँ। तू अकेला नहीं है, तेरे पेट में फौज भर रही है। जहाँ तू आया कि तेरे साथ, लोभ, असत्य, चोरी अनार्यता, स्वधर्म त्याग लक्ष्मी की बड़ी बहिन दरिद्रता, कपट, कलह दम्भ—ये सब के सब निकलने लगते हैं। इनमें से भी एक-एक के पेट से हजारों लाखों, सन्तान उत्पन्न होने लगती हैं। तेरे एक के न आने से ही ये सब रुक सकते हैं।"

इस पर कलियुग ने कहा—"तब, महाराज ! फिर मैं कहाँ रहूँ ? मुझे भी तो कहीं आश्रय मिलना चाहिए।"

महाराज ने कहा—"जहाँ पहिले से रहते थे, वहीं रहो। मेरे इस परम पुण्य प्रदेश गङ्गा यमुना के मध्य की भूमि में जिसे ब्रह्मावर्त या महर्षि देश कहते हैं, वहाँ भूलकर भी पैर न रखो, क्योंकि धर्म के वेत्ता ऋषि महर्षि इसी देववन्दित पावन प्रदेश में निवास करते हैं।"

इस बात को सुनकर तो कलियुग का मुख फक पड़ गया, वह उदास होकर भूमि की ओर देखने लगा।

इस बात को सुनकर शौनकजी ने पूछा—"महाभाग, सूतजी ! महाराज परीक्षित् ने कलियुग के इसी ब्रह्मावर्त प्रदेश से निकल जाने को क्यों कहा ? कलियुग ने पहिले पहिल इसी पावन प्रदेश में प्रवेश क्यों किया ? कलियुग का भी आग्रह इसी देश में रहने का क्यों था ? इसी प्रदेश में ऐसी क्या विशेषता है ? इस बात को हमें विस्तार के साथ बताइये।

हमारी इस शङ्का का समाधान कीजिये, तब आगे की कथा कहिये।"

शौनकजी के ऐसा प्रश्न करने पर सूतजी बड़े प्रसन्न हुए और शौनकजी की प्रशंसा करते हुए कहने लगे—"हे शुनक नन्दन! हे मुनियों के अग्रणी! आपका यह प्रश्न बहुत ही श्रेष्ठ है। मैं इसका उत्तर देता हूँ, आप सभी मुनियों के सहित सावधान होकर श्रवण करें।

"मुनियो! गंगा और यमुना के दोनों तटों का प्रदेश परम पावन माना गया है। विशेष कर गङ्गा यमुना के मध्य की भूमि तो अत्यन्त ही पुण्यप्रद मानी गई है। इस भूमि पर एक तिल भी ऐसी पृथ्वी नहीं, जो अत्यन्त पुण्य की देने वाली न हो। कुरुक्षेत्र, गङ्गाद्वार (हरिद्वार) से लेकर काशी प्रयाग तक की भूमि को महर्षि प्रदेश, ब्रह्मावर्त, पावन प्रदेश अथवा यज्ञ भूमि कहते हैं। संसार में इससे पवित्र भूमि और कहीं नहीं है। समस्त ऋषि, महर्षि, अवतार तथा महापुरुषों ने इतनी ही भूमि का आश्रय ग्रहण किया है। इसी को धर्म-अर्जन का विशिष्ट स्थान माना है। श्रीगंगा जी और श्रीयमुना जी के दोनों ही तट परम पावन हैं। दोनों के बीच की भूमि तो सर्वत्र ही पवित्र है, किन्तु गङ्गा जी के पूर्व तट और यमुना जी के पश्चिम तट की एक योजन पृथ्वी भी उसी प्रकार पावन है। इस भूमि में तो सर्वत्र ही यज्ञ याग आदि करने से अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है। कुछ भूमि पुरियों के कारण पावन हैं, कुछ धामों के कारण। जैसे सातों पुरियाँ परमपावन हैं, उत्कल जैसे देश में जगन्नाथपुरी पावन है, मगध जैसे कीकट देश में गयाजी परम पावन हैं। कुछ प्रदेश नदियों के

कारण परम पावन माने जाते हैं। जैसे दक्षिण के अनार्यों के रहने के प्रदेश चन्द्रवशा, ताम्रपर्णी, आवटोदा, कृतमाला, कावेरी, वेणी, तुङ्गभद्रा, कृष्णा, भीमरथी, गोदावरी, नर्मदा आदि अमृतोपम जलवाली नदियों के कारण पवित्र माने गये हैं। जो लोग इन नदियों के किनारे रहकर इनका जल पीते हैं वे प्रायः भक्त हो जाते हैं। इसीलिये इन पवित्र महा नदियों के तट से एक कोश तक ही इन देशों की पवित्रता मानी गई है, जिससे इनका जल पी सकें। वैसे ये देश स्वयं ब्रह्मावर्त की भाँति पावन नहीं माने गये हैं। मगध जैसे देश में पुनः पुनः नदी परम पावन मानी गई है। अन्य देशों की पावनता निमित्तकृत मानी गई है, किन्तु ब्रह्मावर्त देश तो सर्वत्र स्वयं ही परम पुण्यप्रद माना गया है। भारतवर्ष के अन्तर्गत ही जो समुद्र के पार और द्वीप उपद्वीप हैं जहाँ स्वेताङ्ग नर-नारी निवास करते हैं, वे भारतवर्ष के अन्तर्गत होने से कर्म भूमि तो हैं, किन्तु उनमें वर्णाश्रम धर्म नहीं रहता। वर्णाश्रम से हीन दस्युधर्मी अनार्यों के स्थान हैं। वर्णाश्रमी भी वहाँ जाकर बस जाता है, तो उसकी भी गणना उन्हीं में होने लग जाती है। बहुत से क्षत्रिय राजा तुरुष्क, आभीर, किरात हूण आदि अनार्य जातियों को जीत कर उन पर शासन करने लगे, तो उनको भी ऋषियों ने द्विजों से पृथक् कर दिया। आर्य और अनार्य वर्णाश्रमी तथा अवर्णाश्रमी सदा से रहे हैं, सदा रहेंगे। वर्णाश्रमी आर्यों ने इस आर्यावर्त को ही सर्व-श्रेष्ठ माना है। इसी देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों से नाना भाँति की विद्यायें सीख कर उसका सर्वत्र प्रचार होता है। इसी देश का सदाचार सर्वत्र श्रेष्ठ माना जाता है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"काशीजी में तो यमुना जी

नहीं हैं, फिर आप उसे इस प्रदेश में सम्मिलित क्यों कर रहे हैं ?"

तब सूतजी बोले—"महाभाग! काशी और प्रयाग तो एक ही हैं। वैसे तो काशी सप्तपुरियों में से है, भगवान् भूतनाथ की क्रीड़ा स्थली है, त्रिशूल पर बसी है, विमुक्ति क्षेत्र है फिर भी उसे प्रयाग से पृथक् नहीं मनना चाहिए। अन्तर इतना ही है, कि प्रयाग पुरुष हैं, काशी स्त्री है। प्रयाग लोग हैं, काशी उनकी लुगाई है। प्रयाग मनसेधू हैं, काशी उनकी मेहरारू हैं, प्रयाग महाराजा हैं, काशी उनकी महारानी हैं। स्त्री पुरुषों में कोई भेद थोड़ी ही होता है। इसलिए काशी प्रयाग तो उसी प्रदेश में सम्मिलित है।

"अब आपका एक प्रश्न यह भी है, कि इस देश को इतना पवित्र क्यों माना है? अब इसमें तो शब्द ही प्रमाण है। सदा से शास्त्रकारों की ऐसी ही मान्यता रही है। जहाँ प्रजापति के अंगों के साथ तुलना की गई है वहाँ प्रयाग को उनकी उपस्थेन्द्रिय माना है और जहाँ पृथ्वी का नारी रूप से वर्णन हुआ है वहाँ प्रयाग को उनका जघन माना गया है। स्त्री पुरुषों के ये ही अंग उनके प्रधान चिह्नों के द्योतक हैं। इन्हीं अंगों से विश्व की उत्पत्ति होती है। अतः इसे सर्वश्रेष्ठ कहा है। भगवान् व्यास ने माथुर प्रदेश से लेकर उसके सामने गंगा के दोनों तट पाञ्चाल प्रदेश को और भी श्रेष्ठ माना है। पाञ्चाल प्रदेश के दो भाग माने गये हैं। उत्तर पाञ्चाल की राजधानी अहिच्छत्रपुर, गंगा के समीप है। पूर्व पाञ्चाल की राजधानी कांपिल्य ब्रह्मावर्त बिठूर के समीप है। ऋषि मुनियों के आवास, इसी प्रदेश में बहुत अधिक हैं। इसी बीच में असंख्यों राजसूय और अश्वमेघ यज्ञ हुए हैं। मुनियो!

गोमती के तट पर आप जिस नैमिषारण्य में महायज्ञ करते हुए मुझसे कथा श्रवण कर रहे हैं, यह प्रदेश भी परम पावन है।

"अब आपका एक यह भी प्रश्न है, कि इसी प्रदेश मे पहिले-पहिल कलियुग ने प्रवेश क्यों किया? इसी प्रदेश पर अधिकार स्थापित करने को कलियुग अत्यधिक लालायित क्यों था, सो इसका भी मैं कारण बताता हूँ। आप सब इसे सावधानी के साथ श्रवण करें। देखिये, फलवान् वृक्ष की ही सब आशा करते हैं, धनी पुरुप के समीप ही सब धन की इच्छा से जाते हैं। छायादार वृक्ष का ही थके हुए लोग आश्रय करते हैं। जलवाले सरोवर पर ही प्यास से लोग प्यास बुझाने जाते हैं। जो स्वयं भूखा है वह दूसरों को क्या देगा? जिस वस्तु के द्वारा अपने गुण का विज्ञापन नहीं होता कुशल व्यापारी उससे सम्बन्ध करना व्यर्थ समझता है। जो पृथ्वी पर सोया हुआ है, उसे पतन का भय नहीं। गिरेगा तो वही, जो पृथ्वी से ऊँचा सोया होगा। संसार में किसी भी वस्तु का अत्यन्ताभाव नहीं होता। रहती सब हैं, कभी किसी की वृद्धि हो जाती है, कभी किसी का ह्रास हो जाता है। कलियुग भी सदा से है सदा रहेगा। सत्ययुग में भी वह वर्तमान था, किन्तु उस समय उसका कुछ प्रभाव नहीं था, कहीं इधर-उधर छिपा हुआ, अपने समय की प्रतीक्षा कर रहा था।

"अनार्य देशों में—अपुण्य स्थानों में—तो कलिकाल पहले से ही विद्यमान था। वहाँ भी आर्य राजाओं के प्रभाव से वह डरता रहता था। किन्तु अब जब उसका समय आ गया, तो उसने पुण्य प्रदेशों पर भी अपना अधिकार स्थापित करना

चाहा। जब तक पुण्यवानों का पतन न होगा, उनमें दम्भ, छल, कपट का प्रवेश न होगा, तब तक कलियुग बलवान् नहीं बन सकता। इसीलिये वह इस देश के लोगों पर अपना आतङ्क जमाना चाहता था। इस देश में यदि उसके पैर जम गये, यहाँ के लोगों के सदाचारों में यदि कलि के कुकर्मों का प्रवेश हो गया, तो यहाँ से सीख-सीख कर सब लोग उसे प्रमाण मान लेंगे। अधर्म यदि अधर्म के ही रूप में आवे तब तो लोग उसे स्वीकार करने में हिचकते हैं। किन्तु वह तो सुधार का रूप बनाकर आता है उन्नति की आड़ में अपना अधिकार जमाता है। प्रभावशाली पुरुषों के मुख से अपना समर्थन कराता है, तभी उसका प्रचार होता है।

"अब आप कहेंगे, कि उसने आकर राजा परीक्षित् के ही सामने गौ तथा बैल को मारने का प्रदर्शन क्यों किया? सो, इसका कारण सुनियो! यह है कि बिना राजाश्रय लिये हुए न तो किसी धर्म का प्रचार होता है, न अधर्म तथा पाखंड का। जितने भी धर्म-प्रचारक आचार्य तथा अधर्म और पाखंड के प्रचारक प्रभावशाली पुरुष हुए हैं, सभी ने राजाश्रय लेकर ही अपने मतका प्रचार किया है। जिस प्रचारक को राजाश्रय प्राप्त हुआ है, उसका भी प्रचारक यथेच्छ हुआ है। जिसे राजाश्रय प्राप्त नहीं, वह कुछ दिन चलकर अन्त में टाँय-टाँय फिस्स हो गया है।

यह कलियुग भी किसी तरह महाराज परीक्षित् को फँसाना चाहता था। बुद्धिमान् पुरुषों को फँसाने का उपाय यह है, कि उनके सम्मुख सदा नम्र रहे, उनकी मन लगाकर सेवा करे, सदा हाथ बाँधे खड़ा रहे। नम्रता से ही श्रेष्ठ पुरुष वश में किये जा सकते हैं। वे जब प्रसन्न हो जायँ, तो फिर उनसे जो

चाहो वरदान माँग लो। इसीलिये यह नम्रता बगुला भक्ति के समान थी। महाराज तो धर्मात्मा ही थे, समय का प्रभाव था, आ गये इसके चक्कर में। मीठी-मीठी बातों से उनका हृदय पिघल गया और उसे प्रवेश करने का अवसर प्रदान किया।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"हाँ, अब मेरी शङ्काओं का समाधान हो गया। अच्छा, जब राजा ने कलियुग से यह बात कही, कि ब्रह्मावर्त भूमि में जो लोग बड़े-बड़े यज्ञ यज्ञादि करते हैं, उनकी समस्त कामनायें सर्वान्तर्यामी हरि पूर्ण करते हैं, इससे तुम मेरे इस पुण्य प्रदेश में मत रहो, तब कलियुग ने क्या कहा? क्या वह वहाँ से अपना डेरा-डंडा उठाकर चला गया?"

सूतजी बोले—"चला कैसे जाता? उसे तो यहीं से अपना प्रचार प्रारंभ करना था यज्ञ यागों का प्रचार भी प्रजापति और मनुओं ने इसी प्रदेश से आरम्भ किया और कलियुग का प्रचार भी यहीं से हुआ। उसे तो महाराज परीक्षित् के सिर पर चढ़ना था, उन्हें ही अपने प्रचार का प्रधान पात्र बनाना था, अतः उसने अपनी दशा और भी दयनीय बनाई। वह महाराज की ऐसी बात सुनकर थर-थर काँपने लगा। अपने ऊपर दया उत्पन्न कराने के निमित्त यह बहुत ही भयभीत सा बन गया था। उसे इस प्रकार भय से विह्वल देखकर महाराज परीक्षित् ने डाँटकर कहा—"तू मेरी बात मानता है या अभी तुझे तलवार के घाट उतार कर यमपुरी पहुँचा दूँ?"

कलियुग ने कहा—"प्रभो! कौन सी बात?"

महाराज बोले—"यही, कि तुम मेरे राज्य में मत रहो। यहाँ से अभी चले जाओ।"

डरते-डरते कलियुग बोला—"हे शरणागत वत्सल! फिर मेरी रक्षा कहाँ हुई ? आप तो इस सम्पूर्ण वसुन्धरा के चक्रवर्ती महाराजा हैं। पृथ्वी पर कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ आपका राज्य न हो, आपकी आज्ञा न मानी जाती हो। यद्यपि आप ब्रह्मावर्त देश में ही शासन कार्य करते है, किन्तु आपकी आज्ञा तो सभी देशों के शासकों और राजाओं को शिरोधार्य होती है। आपके राज्य को छोड़कर मैं कहीं जाना भी चाहूँ, तो नहीं जा सकता। अतः आप मुझे कुछ निश्चित स्थान बता दें। आपकी आज्ञा मान कर मैं उन्हीं में रहूँगा। उनसे बाहर कहीं न जाऊँगा।"

कलियुग की अपनी प्रशंसा से सनी युक्ति-युक्त बातें सुनकर महाराज उसके योग्य स्थान की खोज करने लगे। वे थोड़ी देर सोचने लगे—इसे कौन सा स्थान रहने को बताऊँ ?

छप्पय

प्रान दान तो देऊँ किन्तु अब ही तुम जाओ।
ब्रह्मावर्त सुदेश भूल इत कबहूँ न आओ॥
विप्र करें इत याग भाग देवनि कूँ देवें।
सबही सुख तें सदा सर्व पति शिव कूँ सेवें॥
बोल्यो कलि सर्वत्र है, राज्य तुम्हार बसूँ कहाँ।
मोकूँ ठौर बताइ दें, आज्ञा मानि, रहूँ तहाँ॥

कलियुग के रहने को स्थान प्रदान

(७४)

अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः ॥
पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात् प्रभुः ।
ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम् ।१

(श्रीभा० १ स्क० १७ अ० ३८, ३९ श्लो०)

छप्पय

बोले नृप—मम द्वार विमुख याचक नहिं जाहीं ।
वेश्या, हिंसा, द्यूत, मद्य महँ बसहु सदाहीं ॥
सोची भूपति यही चार अति निन्दित थल हैं ।
आसक्ती मद, झूठ क्रूरता के ये बल हैं ॥
गिड़गिड़ाय पुनि कलि कहे, निन्दित अधम सभी दये ।
एक मनोहर नाथ ! दें, तब राजा सोचत भये ॥

साहित्य शास्त्र में एक 'पाद प्रसरण न्याय' आता है । उसका अभिप्राय यह है, कि पहिले तनिक बैठने की जगह कर लो। जब बैठने की जगह मिल जाय तो धीरे-धीरे पैर भी फैलाने

१ कलियुग की इस प्रकार प्रार्थना करने पर महाराज परीक्षित् ने उसे जूआ, मद्यपान, वेश्यासंग और हिंसा—ये चार स्थान दिये । अर्थात्

आरंभ कर दो। जब साधु पुरुष किसी जंगल या नदी-तट की भूमि पर अपना अड्डा जमाना चाहते हैं, तो पहिले जाकर वहाँ छत्ता गाड़कर बैठ जाते हैं, फिर एक चबूतरा सा बना लेते हैं, भगवान की पूजा स्थापित करते हैं, चौतरे से दूर-दूर तुलसी जी लगा देते हैं। फिर तुलसी जी की रक्षा के निमित्त काँटों की बाड़ लगाते हैं। किसी से कहते हैं—'यह ठाकुर जी के भोग को दूध नहीं है। एक गौ का प्रबन्ध होना चाहिये।' कोई धर्मात्मा पुरुष गौ दे देते हैं, उसे बाँधते हैं। 'अब तो बच्चा ! वर्षा आ गई, छत्ते से काम न चलेगा।' इधर उधर से फूँस इकट्ठा करके झोपड़ियाँ बन गईं। कद्दू, लौकी आदि की बेल लग गई। कोई चेला चेत गया। झोपड़ी के स्थान में सुन्दर पक्का मन्दिर बन गया। जय-जय सीताराम की धुनि होने लग गई। आश्रम बन गया। लोग देखते के देखते ही रह गये। साल भर पहले जो साधु चुटकी माँगता हुआ आया था वही गद्दीदार महन्त बन गया।

कलियुग ने भी सोचा—इस धर्मात्मा के राज्य में मुझे पैर टेकने को थोड़ा सा स्थान मिल जाय, फिर तो मैं अपना विस्तार कर लूँगा। इस प्रकार जब दीन होकर कलियुग ने स्थान माँगा, तो राजा ने कहा—"भैया, तुम अधर्म से स्नेह

जहाँ-जहाँ ये पाप हुआ करें, वहीं तुम रहा करो। इन्हीं चारों के कारण असत्य, मद, काम और रजोगुण जनित करता—ये सब अधर्म हुआ करते हैं। जब उसने और भी एक सुन्दर स्थान की प्रार्थना की, तब महाराज ने उसे सुवर्ण और दिया जिसमें पिछले चारों—असत्य, मद, काम और रजोगुण वे सहित पञ्चम वैर भी भरे हैं। इन पांच स्थानों में कलि को रहने की आज्ञा दी।

रखते हो। मेरे राज्य में तुम गड़बड़ करोगे। इसलिये मैं तुम्हें स्थान बताने में डरता हूँ।"

कलियुग ने अत्यन्त दीनता के साथ कहा—"कृपानाथ! सभी तो आपका आश्रय चाहते हैं। आपको छोड़कर कोई रह ही कहाँ सकता है? छोटे बड़े सभी आपकी छत्र-छाया से रह कर पल रहे हैं, सुख से समय व्यतीत कर रहे हैं। मैं ही एक ऐसा अभागा हूँ, जो आपके दरबार से भी निराश होकर लौटूँगा। आप मुझे बुरे से बुरा स्थान बता दें, आपके निर्दिष्ट किए हुए स्थानों से मैं बाहर न जाऊँगा।"

जब कलियुग ने बार-बार दीनता के साथ आश्रय की याचना की, तब तो दयालु महाराज को दया आ गई। वे सोचने लगे—ऐसे कौन से बुरे स्थान हैं, जहाँ कलियुग को रहने को कह दें? ऐसे कौन से अत्यन्त निन्दित दुर्गुण हैं, जिनसे सच्चरित्र पुरुष बचते रहना चाहते हैं? सोचते-सोचते महाराज की बुद्धि में यह बात आई, कि यह असत्य सबसे बड़ा पाप है। सत्य से बढ़कर कोई परम धर्म नहीं। असत्य से बढ़कर कोई कुकर्म नहीं। यह असत्य जूए में सदा रहता है। जुआड़ियों को सत्य असत्य का विवेक नहीं होता। इसलिए एक स्थान तो इसे जुए में देदें। जब यह जुए में रहने लगेगा, तो सज्जन पुरुष कलियुग के डर से कभी जूआ खेलेंगे नहीं, जूआ न खेलेंगे, तो झगड़ा भी न होगा। हमारे पितामह जूए के कारण ही वन-वन भटकते रहे। दूसरे हमारे कौरव पत्तीय पितामह जूए के कारण ही सब के सब युद्ध में मारे गये। जूए के कारण ही संसार व्यापी इतना बड़ा महाभारत युद्ध हो गया। इसलिये आज से कलियुग जूए में नित्य निवास करे।

फिर महाराज ने सोचा—जब तक मनुष्य की सद् असद् विवेक करने वाली निर्मल बुद्धि बनी रहती है, तब तक वह पाप कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता। जब बुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है, उसमें उन्माद आ जाता है, मद का मलिन आवरण छा जाता है, तभी पाप कर्मों के करने की इच्छा उत्पन्न होती है। बुद्धि को सबसे अधिक मलिन बना देने वाली यह सुरा ही है। सुरापान करने वाले शनैः शनैः सभी पापों को करने लग जाते हैं। मद्य के नशे में मतवाले होकर मनुष्य अंट-संट बकते हैं, न करने योग्य काम को करते हैं, काम वासना बढ़ने से गम्या अगम्या का विचार छोड़ देते हैं, सर्वाभिगामी बन जाते हैं। अतः मदिरा में भी कलियुग सदा रहे। इसके रहने से सज्जन पुरुष उसे छूने से भी घृणा करेंगे।

फिर एक बात उनकी समझ में और उसी प्रसङ्ग में आ गई। वे सोचने लगे—मतवाला होकर मनुष्य अत्यन्त कामी बन जाता है, उसकी कामवासना उत्तेजित हो उठती है, उस समय उसे कामिनी की अभिलाषा होती है। जो सती साध्वी पतिपरायण स्त्रियाँ हैं, उनमें तो अपने पातिव्रत और सत्य धर्म का इतना अधिक प्रभाव होता है, कि उनका कोई घर्षण नहीं कर सकता, किन्तु जो अकुलीन, कुटिला, स्वैरिणी स्त्रियाँ होती हैं, वे कामियों की कामवासना में फँस जाती हैं। एक तो उन्हें यौवन का स्वाभाविक ही उन्माद होता है, तिस पर यदि वे मद्य का भी सेवन करलें तब तो शील, सङ्कोच, लज्जा, कुल, धर्म सभी को तिलांजलि दे देती हैं। जब उन्हें व्यसन पड़ जाता है, तब तो वे सदा अतृप्त ही बनी रहती हैं। आठों पहर उन्हें वही वासना व्यथित करती रहती है। ऐसी स्त्रियाँ यदि किसी की पत्नी हो चुकी हैं, तो अपने पतियों को धोखा देती हैं,

उसे ठगती हैं, उसके सामने कपट व्यवहार करती हैं और कभी-कभी अपने पुरुष पर प्रेमी से किसी प्रकार उसका अन्त भी करा देती हैं। यदि वे स्वच्छन्द चारिणी, स्वैरिणी, पण्य स्त्री बन जाती हैं, तब तो निरन्तर पाप बटोरती ही रहती हैं। उनमें यदि कलियुग सदा बसेगा, तो धर्मात्मा लोग दूर से ही उनका परित्याग करेंगे। पापी ही उनके समीप जायँगे। सब पापी-पापी एक ओर हो जायँगे। इससे धर्म का सवदा लोप न होगा। धर्मात्मा पुरुष सर्वथा उनसे पृथक् बने रहेंगे।

महाराज जब मदिरा और मदिरेक्षणा के सम्बन्ध में सोच रहे थे, तभी उन्हें जिह्वा इन्द्रिय के विषय की याद आई। वे सोचने लगे—मनुष्य दो ही इन्द्रियों के लिए सब से अधिक पाप करता है, उपस्थेन्द्रिय के लिये और जिह्वा के लिये। जिसने इन दोनों को अपने वश में कर लिया, उसने तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कर ली। जो इन दोनों के विषयों में फँस गया, वह मानों चौरासी के चक्कर से निकलते-निकलते फिर से फँस गया। जिह्वा स्वाद के लिये मनुष्य नाना पाप करता है। जब सुन्दर पदार्थों को खा-खा कर पेट भर जाता है, तब उसका उत्तेजित रस बनकर उपस्थेन्द्रिय को काम के लिये प्रेरित करता है। सब में स्वादिष्ट और काम वासना को बढ़ानेवाला पदार्थ मांस है। मांस से बढ़कर जिह्वा को सुख देने वाला पदार्थ दूसरा नहीं। मांस सदा हिंसा से प्राप्त होता है। जीवों का वध करके तब उनका मांस लोगों को खाने के लिये मिलता है। इसलिये वधकर्म में भी सदा कलियुग रहे। इसमें कलियुग रहेगा, तो धर्मात्मा लोग मांस से घृणा करेंगे। जब ये मांस न खायँगे तब उसके द्वारा होने वाले अन्य पापों से भी वे बचे रहेंगे।

महाराज ने सोचा—कलियुग शरण में आगया है, इसलिये इस स्थान तो देना ही है। यह मानी हुई बात है, कि जहाँ यह रहेगा, अपना प्रभाव दिखावेगा ही! फिर इसका प्रभाव सब पर क्यों पड़े? दो विभाग हो जाय—एक शुद्ध पुण्यात्मा पुरुषों का, एक पापियों का। जो कलियुग के रहने के स्थानों में आसक्त हो वे पापी कहलावें और जो इनसे बचते रहें, वे पुण्यात्मा हो जायँ। ऐसा करने से पाप पुण्य, धर्म अधर्म दोनों ही मेरे राज्य में सुखपूर्वक अलग-अलग रह सकेंगे। यही सब सोच समझकर महाराज कलियुग से बोले—"अच्छा, भैया! मेरे यहाँ से कोई याचक निराश होकर नहीं लौटता। जाओ, मैंने तुम्हें द्यूत में, मद्य में, अधर्म पूर्वक किये स्त्री प्रसङ्ग में और प्राणियों की हिंसा में, रहने को चार स्थान दिये। इन चारों में ही तुम रहना। यदि इनसे अलग कहीं गये, तो फिर बिना मारे न छोड़ूँगा।"

एक कहावत है 'उँगली पकड़कर पहुँचा पकड़ा जाता है।' उँगली के स्पर्श को बिना बाधा के सह ले, तो समझ लो अब वह चक्कर में फँस गई। जब महाराज ने चार स्थान दिये, तो कलियुग मन ही मन बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सोचा—मैंने अपनी झूठी नम्रता से राजा को फँसा लिया। किन्तु लाभ से सदा लोभ बढ़ता है। कलियुग इतने से सन्तुष्ट न हुआ। उसे ये चारों स्थान बहुत ही संकुचित दिखाई दिये।

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वे चार स्थान महाराज ने क्यों दिये? इन चारों में तो पहिले से ही अधर्म रहता था। जहाँ अधर्म है वहाँ कलियुग है ही। फिर कलियुग इन चारों स्थानों को पाकर क्यों प्रसन्न हुआ।"

तब सूतजी बोले—"महाभाग! यह आपका कहना सत्य है, कि द्यूत, मद्य, स्त्री प्रसङ्ग और हिंसा इन कार्यों की सदा से धर्मात्मा पुरुष निन्दा करते रहे हैं। फिर भी दूसरे युगों में इन कार्यों में भी समयानुसार धर्म का वास माना जाता था। जैसे द्यूत को ही ले लीजिये। कुछ अवसरों पर तीनों युगों में द्यूत खेलना धर्म समझा जाता था। विवाह के समय, महा-रात्रि दीपावली के समय, एक राजा दूसरे राजा को युद्ध की ही भाँति जूए को ललकारे, उस समय जूआ खेलना धर्मानुसार श्रेष्ठ समझा जाता था। यदि ऐसा न होता? तो साक्षात् धर्म के अवतार, असत्य से दूर रहनेवाले महाराज युधिष्ठिर इस निन्द्य कुत्सित कर्म में क्यों प्रवृत्त होते? लोभ तो उन्हें स्पर्श भी नहीं कर सकता था। दुर्वासनाओं से वे सदा बचते रहते थे। केवल धर्म समझकर ही उन्होंने जूआ खेला था। जब से महाराज परीक्षित् ने कलियुग को जूए में स्थान दे दिया, तब से जूए मे धर्म किसी भी दशा में नहीं रहा। उसमें सदा कलियुग का वास है, इसलिए किसी भी दशा में पूर्व युगों के लोगों का अनुसरण करके भूल से भी कभी जूआ न खेलना चाहिये।

"इसी प्रकार मदिरा की बात है। बहुत पहिले मदिरा निषिद्ध नहीं समझी जाती थी। जब असुरों ने दुष्टता के कारण बृहस्पति के पुत्र कच को मार कर, जलाकर उसकी राख तक सुरा के साथ अपने गुरु शुक्राचार्य को पिला दी, तब कुपित होकर सर्व समर्थ असुरों के प्रतापी पुरोहित ने संसार के लिए यह मर्यादा स्थापित कर दी कि, जो द्विज होकर मद्य-पान करेगा उसे ब्रह्महत्या का पाप लगेगा। इसमें द्विजों के लिए ही मर्यादा थी, द्विजेतरों को पाप वाली बात नहीं थी। इस पर भी स्मृति-

कारों ने कुछ विशेष नियम बना दिये थे। ब्राह्मण के लिये तो सभी भाँति की सुरा निषिद्ध बताई गई थी, किन्तु अन्य वर्णों के लिये कुछ विशेष-विशेष वस्तुओं से बनी वारुणी आदि की छूट थी। यह तो रही वर्णगत बात। कुछ विशेष-विशेष अवसरों पर अन्य युगों में धार्मिक क्रिया के रूप में विधान भी था। जैसे 'सौत्रामणि' नामक यज्ञ में सुरा का विधान था, वहाँ धर्म मान कर उसका ग्रहण था। जब से महाराज परीक्षित् ने कलियुग को सुरा में निरन्तर रहने का वरदान दे दिया, तब उन्नति चाहने वाला, चाहे किसी भी वर्ण का, किसी भी आश्रम का, पुरुष क्यों न हो, उसे किसी भी अवसर पर कैसे भी सुरा का—पान की बात तो अलग रही—स्पर्श तक न करना चाहिये। हाँ, यदि वैद्य रोग को असाध्य बतावे और उसमें आसव के बिना किसी प्रकार चिकित्सा न हो और जीवन की इच्छा प्रबल हो, तब उस समय विवशता की दूसरी बात है। वैसे कलियुग में सभी को सर्वदा मदमत्त कर देनेवाली मदिरा से सदा बचते रहना चाहिये, क्योंकि इसमें अधर्म के मित्र कलह के बन्धु कलियुग का वास है।

"प्राचीन-काल में लोगों के विवाहित पत्नियाँ तो होती ही थीं, कुछ अविवाहित उप-पत्नियाँ भी रखते थे। वे सभी वर्णों की होती थीं, उनके लिये भी मर्यादा थी। कुछ जो सार्वजनिक वाराङ्गनायें होती थीं उनको भी शास्त्रकारों ने बहुत से धर्म बताये थे। उनके लिए भी व्रत, उपवास, और दान आदि पुण्य कर्मों का विधान था। किन्तु जब से महाराज परीक्षित् ने स्त्री सङ्ग में निरन्तर कलियुग को रहने को कह दिया, तब से ऋतुकाल में अपनी धर्म-पत्नी को छोड़कर और जितने प्रकार के भी व्यवसाय हैं, वे सब अधर्म हैं, पाप हैं। धर्मात्मा पुरुषों

को पर स्त्री की बात तो कौन कहे, अपनी माता, युवती बहिन और लड़की को भी एकान्त में स्पर्श न करना चाहिये, न उन्हें अकारण देखना ही चाहिये। वैसे तो स्त्रियों के सभी अंगों में काम का वास है, किन्तु विशेष कर बालों में, मस्तक पर, भौंहों में, आँखों में, ओष्ट में, मुख में दोनों ओर, हृदय में, नाभि और जंघाओं में विशेष रूप से वास है। अतः उन्नति चाहने वाले पुरुषों को कामिनियों के इन अंगों को न तो देखना ही चाहिये, न स्पर्श ही करना चाहिये। जो इन्हें स्पर्श करेगा उनके सिर पर कलियुग तुरन्त सवार हो जायगा।

"सत्ययुग, त्रेता और द्वापर आदि युगों में यज्ञयागों में की हुई वैदिकी हिंसा, हिंसा नहीं मानी जाती थी। महाराज परीक्षित् समझते थे, कि आगे कलिकाल में लोग दम्भी और पाखंडी ही विशेष होंगे, वे यज्ञ और देवता का बहाना करके अपनी जिह्वा लोलुपता की ही पूर्ति करेंगे। अपने पेट के लिये ही ये सब करेंगे। इसीलिये उन्होंने सभी प्रकार की हिंसा में कलियुग को रहने की आज्ञा दे दी। कलियुग में यज्ञों में भी—देवता के निमित्त भी—जीवों की बलि देना निषेध है। फल और पुष्पों की बलि से काम चलावे। जो किसी भी कार्य में जीव हिंसा करेगा, कलियुग तुरन्त उसके शरीर में प्रवेश कर जायगा।

"इस प्रकार पहिले जो ये काम निषिद्ध होने पर भी देश, काल और पात्र भेद से कभी विहित भी माने जाते थे, महाराज परीक्षित् के कलियुग को वरदान देने के अनन्तर ये कार्य सर्वथा निषिद्ध बन गये। आठों पहर इनमें कलियुग बैठा रहता है, यह किसी का कुछ भी बहाना नहीं सुनता।

"इन स्थानों में रहकर भी कलियुग सब पर अपना अधिकार नहीं जमा सकता था। बहुत से पुण्यात्मा पुरुषों को तो इन कार्यों से स्वाभाविक ही घृणा होती है। कलियुग कोई ऐसा एक स्थान और चाहता था, जो व्यापक हो। जिसका व्यवहार सभी लोग किसी न किसी रूप में करते हों और उसमें ये चारों दोष—अनृत, मद, काम और निर्दयता के साथ कलह और वैर भी हों। इसीलिए उसने हाथ जोड़कर विनत भाव से महाराज से पुनः प्रार्थना की। कलियुग बोला—'धर्मावतार! आपने चार स्थान जो मुझे बताये हैं, उनमें तो मैं आपकी आज्ञा से रहूँगा ही, किन्तु हे शरणागतवत्सल! आपने ये सभी गन्दे-गन्दे स्थान मुझे दिये। इनमें तो भले आदमी वैसे ही नहीं फँसते, इनसे सदा दूर ही रहते हैं। कोई एक अच्छा सा, सुन्दर, स्वच्छ, चमकीला स्थान मुझे और दे दें, जब इन बुरे स्थानों से ऊब जाया करूँ, तो वहाँ आकर मनमानी क्रीड़ायें किया करूँ। बस, स्वामिन्! एक ही और दे दीजिये, फिर मैं आपको अधिक कष्ट न दूँगा।'

"महाराज ने कलियुग की बातपर फिर विचार किया। बहुत सी चमकीली वस्तुओं पर उनकी दृष्टि गई। विचार करते-करते उनके ध्यान में आया, कि यह सुवर्ण ही हत्या की जड़ है। सुवर्ण के पीछे ही सगा भाई शत्रु के समान बन जाता है। धन के लोभ के पीछे ही मेरे पितामहों में वैर हो गया। कौरवों ने धन के लोभ से ही मेरे पितामहों को राज्य नहीं लौटाया। त्यागी के पास भी धन आ जाता है, तो वह पाप कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है, अतः इसे सुवर्ण में भी स्थान दे दो।

"यही सोचकर भावी वश अकस्मात् महाराज के मुख से निकल गया—'अच्छी बात है! जाओ, मैंने तुम्हें सुवर्ण में भी स्थान दिया।'

"इतना सुनते ही कलियुग अत्यधिक प्रसन्न हुआ। उसने मन ही मन कहा—'अब तो मैंने बाजी मार ली। अब तो यह पांडवों के वंश का धर्मात्मा राजा बुरी तरह से फँस गया। इसके सिर पर चमचमाता हुआ मुकुट सुवर्ण का ही है। सर्व प्रथम इसमें ही घुस कर इसकी बुद्धि भ्रष्ट करूँगा। इसीसे न करने योग्य कार्य कराऊँगा। इसी पर अपना बल पौरुप दिखाऊँगा। इसी को अपना प्रथम ग्रास बनाऊँगा। इसी को मरवा कर मजा चखाऊँगा। इतना सोचकर तुरन्त वह महाराज परीक्षित् के सुवर्ण मंडित मुकुट में प्रवेश कर गया।"

सूतजी कहते हैं—"ऋषियों! तभी से पृथ्वी पर कलियुग ने अपने पैर फैलाने प्रारम्भ कर दिये। इसलिये पुरुषों को द्यूत, मद्यपान, स्त्री प्रसङ्ग, जीव हिंसा और सुवर्ण के लोभ से सदा बचे रहना चाहिये। जिसे परमार्थ पथ का पथिक बनना हो, जिसे उन्नति के ऊँचे शिखर पर चढ़ना हो, जिसे इस संसार सागर को पार करने की इच्छा हो, जिसे जन्म मरण के बंधन से मुक्ति पानी हो, उसे भूलकर भी इन पाँचों वस्तुओं में आसक्ति न करनी चाहिये। विशेष कर समाज के नेता को शासक को, धर्माचार्य को और लोक-शिक्षक को तो इससे सर्वदा ही बचे रहना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"हाँ, तो सूतजी! आगे फिर क्या हुआ? महाराज परीक्षित् कहाँ गये? कलियुग ने फिर क्या किया? धर्म और पृथ्वी का क्या हुआ? इन बातों को कृपा करके और बताइये।"

शौनकजी के ऐसे प्रश्न पूछने पर सूतजी उदास मन से बोले—"महाराज भृगुवंश भूषण! हुआ क्या? जो होना था सो हो गया। कलियुग का काम बन गया। उसे उत्तम से उत्तम स्थान मिल गया। वह तो महाराज के मुकुट में घुस गया। धर्म और पृथ्वी—गौ बैल बने वहीं खड़े थे। राजा ने उन्हें उस समय आश्वासन दिया। बैल को उस समय चारों पैर वाला बना दिया अर्थात् धर्म से कहा दिया—मेरे राज्य में कोई असत्य भाषण, मदिरापान, परस्त्रीगमन और जीव-हिंसा न करेगा। सब लोग तप, शौच, दया और सत्य में स्थित रहकर धर्म कार्यों को करते रहेंगे। इस प्रकार धर्म और पृथ्वी को ढाँढस बँधाकर, समस्त पृथ्वी पर अपनी वीरता स्थापित करके दशों दिशाओं को जीत कर, महाराज परीक्षित् हस्तिनापुर में आकर धर्मपूर्वक राज काज करने लगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उन्हीं धर्मात्मा राजा परीक्षित् के राज्य काल में आपने अपने यज्ञ का बहुत सा समय व्यतीत किया है। आपका यज्ञ तो महाराज युधिष्ठिर के राजकाल में ही आरम्भ हो गया था, उनके महाप्रस्थान के अनन्तर जब महाराज परीक्षित् सम्राट् हुए, तब उनके तो पूरे शासनकाल में आपका यज्ञ चलता रहा। अभी वे स्वधाम पधार गये। उनके शासन में धर्म की बड़ी उन्नति हुई। चारों ओर यागों की भरमार रही, किन्तु कराल काल की कुटिल गति के कारण वे महाराज अब नहीं रहे। व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुक ने उन्हें श्रीमद्भागवत रूपी अमृत पिलाकर अमर बना दिया। भगवान् की सुमधुर कथा रूपी नौका पर बिठाकर, अपार संसार सागर से बात की बात में उस पार पहुँचा दिया। मुनियो! श्रीमद्भागवत ही संसार समुद्र में डूबे हुए प्राणियों का एक-

मात्र अवलम्ब है। उसी भागवती कथा को मैं आपके सम्मुख कहूँगा, आप सब प्रभु पाद-पद्मों में दत्तचित्त होकर सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

स्वर्ण एक संसार माँहि हत्या की जर है।
स्वजन विजन बनिजायँ बैर को यह ही घर है॥
कौरव पांडव लरे नाश सब जग को कीन्हो।
दोष खानि लखि नृपति पाँचवों सोनो दीन्हों॥
सुखी स्वर्ण सुनि कलि भयो, अति प्रसन्न है हँसि गयो।
स्वर्ण मुकुट नृप सिर निरखि, तुरत ताहि महँ धँसि गयो॥

महाराज परीक्षित् के उत्तरचरित का प्रश्न

(७५)

तत्रः परं पुण्यमसद्वृतार्थ—
माख्यानमत्यद्भुतयोगनिष्ठम् ।
आख्याह्यनन्ताचरितोपपन्नम्,
पारीक्षितं भागवताभिरामम् ॥१

(श्रीभा० १ स्कं० १८ अ० १७ श्लो०)

छप्पय

पूछ्यो शौनक—'सूत ! दुष्ट कलि क्यों नहिं मारयो ।
काहि न क्रूर कराल राज्य तें पकरि निकारयो ॥
सूत कहें—'नृप भ्रमर सरिस रसग्राही ऋजु अति ।
सोच्यो कलि महँ लगहिं, पाप करि पुण्य होयँ मति ॥
यह खल कलि कायरनि कूँ, डरपावे वृक के सरिस ।
धीर वीर हरि भक्त लखि, डरे कँपे नहिं करहिँ रिस ॥

यह संसार गुण दोषों से भरा हुआ है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें दोष ही दोष भरा हो, एक भी गुण न हो। इसके विपरीत ऐसी भी कोई वस्तु नहीं जिसमें गुण ही गुण

---

१ शौनकादि मुनि सूतजी से कह रहे हैं—"हे सूतजी ! आप हमसे महाराज परीक्षित् का उत्तर चरित कहें । महाराज परीक्षित् का चरित

हों, एक भी दोष न हो। बुद्धिमत्ता और मूर्खता उनके ग्रहण में ही देखी जाती है, बुद्धिमान पुरुष सब वस्तुओं में से गुणों को ही ग्रहण करते हैं, अवगुणों को परित्याग कर देते हैं। जैसे मक्खन से घृत बनाने वाला अग्नि पर नवनीत को तपा कर घृत-घृत निकाल लेता है, उसके मलको फेंक देता है। गन्ने में से रस निकालने वाला फुक्कस को फेंक देता है, रस को ग्रहण करता है। तेला नीम की निबौरी में से तेल निकाल लेता है, खरी को फेंक देता है। हंस पानी मिले दूध में से दूध-दूध पी लेता है, पानी को छोड़ देता है। इसके विपरीत जो दुष्ट पुरुष होते हैं, वे गुणों को छोड़कर अवगुणों को ही ग्रहण करते हैं। कैसी भी सुन्दर गुणकारी खाद क्यों न हो, यदि वह आम के पेड़ में दी जायगी, तो आम उसमें से मीठा रस ग्रहण करके आम को मीठा बनावेगा, वही नीम में दी जाय तो नीम उसमें से कड़वाहट को ही ग्रहण करके कड़वा रस उत्पन्न करेगा। दूध माता को पिलाया जाय, तो उससे बालक को जीवन दान देने वाला अमृतोपम पय बनेगा। वही सर्प को पिलाया जाय, तो विष की वृद्धि करेगा, जो तत्काल प्राणियों के प्राण हरण में समर्थ हो सकता है। जिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर सुन्दर है, उसमें जहाँ घाव होगा, गंदगी होगी, मक्खी वहीं बैठेगी। उसी प्रकार पुरुष चाहे कितना भी गुणी, तपस्वी, भगवत् भक्त क्यों न हो, दुष्ट पुरुष उसके छिद्रों का ही अन्वेषण करेंगे। उसमें तनिक सी भी कोई त्रुटि उन्हें दीख पड़ेगी, उसी का विस्तार करके वर्णन करते फिरेंगे, किन्तु सज्जन पुरुषों को या तो किसी के दोष दिखाई ही नहीं देते,

---

परम पवित्र और अद्भुत योग युक्त है, जो भगवत् सम्बन्धी चरित्रों से सम्पन्न है तथा भगवद् भक्तों को अत्यन्त ही प्रिय है।

यदि वह अनेक दोषों का भंडार ही हो, प्रत्यक्ष दोषों से भरा हो, तो भी उसके दोषों की वे उपेक्षा कर देते हैं। वे तो उसमें एक भी गुण देखते हैं, तो उसी पर रीझ जाते हैं। उस एक गुण के कारण ही उसका अत्यधिक आदर करते हैं। महाराज परीक्षित् तो गुणग्राही थे। अनेक दोषों तथा नाना भाँति के अधर्मों की खानि इस कलियुग में उन्होंने कौन सा ऐसा गुण देखा, जिससे वे उस पर रीझ गये और दया वश अपने राज्य में उसे स्थान दे दिया? यही सब सोचकर शौनकजी सूतजी से प्रश्न कर रहे हैं—"सूतजी! महाराज परीक्षित् जी तो बड़े धर्मात्मा थे, दूरदर्शी थे, सभी प्रकार के गुण दोषों का विवेचन करने में समर्थ थे, फिर उन्होंने कलियुग को अपने राज्य में स्थान क्यों दिया? उस दुष्ट को उसी समय मार क्यों नहीं दिया? उसमें उन्होंने ऐसा कौनसा गुण देखा, जिस पर रीझकर इसे पाँच-पाँच स्थान दिये? सुवर्ण में कलि का वास होने से तो वह सर्व व्यापी बन गया। संसारी सभी कर्म धन से ही चलते हैं। धन से लोभ बढ़ता है, लोभ ही पाप का मूल है, पाप में ही कलियुग का वास है, यह तो अपने हाथों ही अपने पैर में कुल्हारी मारने के समान हुआ। इसका कारण हमें बताइये।"

शौनकजी के ऐसा प्रश्न करने पर सूतजी कहने लगे—"मुनियो! आपका कथन सत्य है, कि कलियुग दोषों की खानि है, बड़ा बलवान है, फिर भी जो शूर वीर पराक्रमी पुरुष होते हैं, वे दूसरों के बल को तुच्छ समझते हैं। उन्हें इतना आत्माभिमान होता है, अपने बल पुरुषार्थ का इतना भरोसा होता है, कि उसके सामने वे दूसरों के बल को तुच्छ समझते हैं। वे सोचते हैं—ये क्षुद्र बल वाले

पुरुष हमारा विगाड़ ही क्या सकते हैं? भय तो निर्वलों को हुआ करता है। वली पुरुष डरते नहीं। महाराज परीक्षित् कलियुग से क्यों डरने लगे? उन्हें तो अपने धर्म और सत्य का वल था, अतः उन्होंने कलियुग के दोषों की ओर ध्यान न देकर उसके गुणों को ही ग्रहण किया।"

इसपर शौनकजी ने फिर पूछा—"सूतजी! हम वही तो सुनना चाहते हैं, कलियुग में महाराज ने ऐसा कौन सा गुण देखा?"

सूतजी बोले—"मुनियो! जैसे काँटेदार वृक्षों के फूलों से भी भ्रमर सुन्दर सुस्वादु रस ही ग्रहण करता है, उसके काँटों से उसे कोई प्रयोजन नहीं, उसी प्रकार सारग्राही महाराज परीक्षित् ने कलियुग से द्वेष नहीं किया। क्योंकि कलियुग में एक वड़ा भारी गुण यह है, कि इसमें शुभ कर्म तो मन से भी यदि किये जायँ, तो उनका फल हो जायगा और पाप कर्मों का फल तभी होगा, जव वे शरीर से किये जायँगे। अन्य युगों में ऐसा होता था, कि मन में भी कोई पाप करता था, तो उसका फल सवको भोगना पड़ता था। सत्ययुग में कोई एक पुरुष पाप करता था, पूरे राष्ट्र को उसका फल भोगना पड़ता था। त्रेता में ऐसा हुआ कि एक व्यक्ति के पाप पुण्य के भागी नगर वासी होते थे, द्वापर में कुल परिवार और सम्वन्धी पाप के भागी होते थे। अव कलियुग में जो पाप पुण्य करे, वही उसका फल भोगे। पाप कर्म यदि भूल से मन में स्वतः ही आ जायँ, तो उनका कुछ भी फल नहीं होता, किन्तु पुण्य कर्म मन में भी आजायँ, तो वे शुभ फल देने वाले होते हैं। वस, महाराज कलियुग के इसी गुण पर रीझ गये। यद्यपि कलियुग दोषों की खानि है,

किन्तु उसमें एक यह भी बड़ा भारी गुण है, कि बिना किसी अन्य साधनों की अपेक्षा किये, जो भगवान् के नामों का कीर्तन करता है वह भगवद् धाम को प्राप्त हो जाता है।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! पापी पुरुषों के मन में शुभ कर्मों के संकल्प आ ही कैसे सकते हैं? प्याज खाने वाले को तो डकार भी प्याज की ही आवेगी। मूली खाने वाले के उद्गार में मूली की ही गंध आती है। अतः निरन्तर पाप कर्मों में ही प्रवृत्त रहने वाले कलियुगी जीव शुभ संकल्प किस प्रकार कर सकते हैं?"

सूतजी इस बातको सुनकर हँस पड़े और हँसते-हँसते बोले—"महाराज! सब लोग अपनी मान्यता के ही अनुसार कार्य करते हैं। चोर सबको चोर ही समझता है। व्याभिचारी पुरुषों को सचरित्र पुरुषों की विशुद्ध बातों में भी काम की गंध आती है। धर्मात्मा सभी को अपने समान शुद्ध समझ कर व्यवहार करता है। बली पुरुष जैसे स्वयं निर्बलों से नहीं डरता, दूसरों से भी वह इसी बात की आशा रखता है, कि मेरी ही भाँति सभी निर्भय बनें। महाराज परीक्षित् बुद्धिमान् और बलवान् थे। उन्होंने सोचा—यह कलियुग असावधान मूर्ख पुरुषों को ही डरानेवाला है। जो पुरुष धर्मात्मा हैं, प्रबल पराक्रमी हैं, उनसे तो यह पापी स्वयं ही डरता है। भले पुरुषों का यह बिगाड़ ही क्या सकता है? जैसे भेड़िया डरपोक छोटे-छोटे बालकों पर ही प्रहार करता है, हाथ में डंडा लिये निर्भीक पुरुषों को देखकर ही भाग जाता है, उसी प्रकार जो सदा सावधान रहते हैं, धर्म कार्यों में लगे रहते हैं, पाप से सदा बचते रहते हैं, उनका कलियुग कुछ भी अनिष्ट नहीं कर

सकता। महाराज तो अपनी ही भाँति सबको समझते थे। इसीलिये उस दुष्ट को जान बूझकर अपने राज्य में बसाया।

"कलियुग आ तो पहिले ही गया था, किन्तु भगवान् के भय से एक ओर चुपचाप छिपा हुआ बैठा रहा। जिस दिन भगवान् स्वधाम पधारे, उस दिन से ही उसने अपने पैर फैलाने शुरू किये। महाराज परीक्षित् के राज्य शासन में वह सर्वत्र फैल गया था। पृथ्वी भर में उसने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। फिर भी महाराज परीक्षित् इतने धर्मात्मा थे कि उनके रहते हुए कलिकाल अपना कुछ प्रबल प्रभाव नहीं जमा सका। जब महाराज विप्र-शाप से तक्षक द्वारा डसे जाकर भगवद् धाम को पधार गये, तभी से कलियुग खुलकर खेलने लगा।

"मुनियो! देखिये, कैसे आश्चर्य की बात है; गर्भ में जो द्रोण पुत्र अश्वत्थामा द्वारा छोड़े हुए ब्रह्मास्त्र से नहीं मरे, अद्भुत कर्मा भगवान् वासुदेव ने अपने चक्र द्वारा गर्भ में घुसकर जिनकी रक्षा की, वे महाराज भी एक साधारण तक्षक द्वारा निधन को प्राप्त हुए। यद्यपि उन्हें महाविषधर नागों के राजा तक्षक ने काटा, सात दिन पहले ही उन्हें यह समाचार मिल गया था, कि अमुक दिन तुम्हें सर्प अवश्य काटेगा, फिर भी भगवान् में चित्त लगे रहने के कारण वे विप्रशाप से तथा तक्षक के विष के भय से भी विकल नहीं हुए। उन्होंने गंगा तट पर परमहंस शिरोमणि शुक का शिष्यत्व स्वीकार करके और उनके द्वारा भगवत् स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके अपना यह पाञ्चभौतिक शरीर वहीं सब मुनियों के सम्मुख हँसते-हँसते त्याग दिया। जिस दिन उन्होंने शाप की बात सुनी, उसी दिन राज्य पाट, सेना कोष सब का परित्याग

करके सर्व संग विनिर्मुक्त हो गये। ऋषियो! इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। भगवत् भक्ति का ऐसा ही प्रभाव होता है। जो निरन्तर भगवान् वासुदेव की ही वार्ताओं का श्रवण करते हैं, कानों द्वारा उन्हीं की कमनीय कथाओं का श्रवण करते हैं, मन के द्वारा उन्हीं के चरण कमलों का निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं, उनको अन्तकाल में भी मृत्यु की अनन्त वेदना होने पर भी कष्ट नहीं होता। वे हँसतेहँसते जैसे सर्प अपनी केंचुली का त्याग कर देता है, वैसे ही नश्वर शरीर को त्याग देते हैं।

"मुनियो! आपने मुझसे महाराज परीक्षित् का जो चरित्र पूछा था, वह मैंने यथावत् आपको सुना दिया। उनके पूर्वजों का संक्षेप में परिचय कराकर उनके जन्म से लेकर निधन तक की कथा मैंने आपको सुनाई, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं? अब कौन सी कथा मैं आपके सम्मुख कहूँ? क्योंकि श्रवण करने योग्य तो वे ही कथायें हैं, जिनमें श्रीकृष्ण के गुण और कर्मों का सम्बन्ध हो। साधारण लोगों की कथायें तो विषय वार्ताओं से भरी हुई होती हैं। भगवत् भक्तों की कथाओं में भगवान् की महिमा का ही वर्णन रहता है। अतः उन्नति चाहने वाले पुरुषों को भक्त और भगवान् की कथाओं को छोड़ कर अन्य कथायें भूलकर भी न सुननी चाहिये।"

सूतजी की ऐसी बात सुनकर सभी मुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए। भक्त और भगवान् की कथा तथा उनकी महिमा का श्रवण करके उनके रोमरोम खिल उठे, कंठ गद्गद हो गया, नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगे। वे सूतजी की प्रशंसा करते हुए सभी एक स्वर से कहने लगे—"सूतजी! हे महाभाग!

हे सौम्य ! आप चिरञ्जीवी हों, हजारों वर्ष की आयु हो ! अहा, आपके समान उपकारी संसार में कौन होगा ? सभी मरणशील पुरुषों को अमर बना देने वाली कथा आप हमें सुना रहे हैं। मरणासन्न पुरुषों के मुख में कृपा करके स्वतः ही अमृत उड़ेल रहे हैं। उन अनन्तकीर्ति भगवान् वासुदेव की निर्मल कीर्ति वाली कथा सुनकर हमारी तृप्ति नहीं हो रही है। आप हमें ऐसा श्रेष्ठ फल प्रदान कर रहे हैं, जो किसी भी लौकिक वैदिक कर्मों से प्राप्त नहीं हो सकता।"

हाथ जोड़े हुए, सिर झुका कर दीनता के साथ सूतजी ने कहा—"मुनियो ! आपका आशीर्वाद मेरे लिए परम कल्याण-कारक है। आप सत्र तो उत्तर फल देने वाला, अत्यन्त विधि विधान के साथ महायज्ञ कर रहे हैं। आपको मैं क्या उत्तम फल प्रदान करता हूँ, जो भी कुछ टूटी-फूटी सेवा मुझसे हो रही है, कर रहा हूँ।"

इसपर शौनकजी बोले—"सूतजी, यह तो सत्य ही है, हम सब दीर्घ सत्र में प्रवृत्त हैं। किन्तु इसके फल में हमें सदा संदेह ही बना रहता है। जहाँ तनिक सी विधि विपरीत हुई, वहीं सब गुड़ गोबर बन जाता है, सब किया कराया व्यर्थ हो जाता है। इस विधि प्रधान यज्ञमें पग-पग पर संदेह है। शास्त्रकारों का कथन है—विधिहीन यज्ञ का कर्ता तत्काल ही विनाश को प्राप्त होता है। इसलिए इस महायज्ञ में यदि कोई निश्चित महाफल हमें मिल रहा है, तो वह यही है, कि आपके मुख से भगवान् श्याममुन्दर की कथा सुनने को मिल रही है। आप कथा क्या सुना रहे हैं, यज्ञ धूम से धूम्रवर्ण हुए हम लोगों के कानों को, पान पात्र बनाकर, उसमें आनन्दकन्द

श्रीकृष्णचन्द्र के विश्ववन्दित चरणारविन्दों का, मधुर मधु उड़ेल कर, हमें निरन्तर तृप्त बना रहे हैं।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! आप सबतो वयो-वृद्ध, ज्ञान-वृद्ध, विद्या-वृद्ध और तपस्या-वृद्ध हैं, मेरे पूजनीय पिता के भी आदरणीय और वन्दनीय हैं। मैं तो अभी अल्प-काल से ही आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। सो मैं भी कथा सुना कर आप सबकी तृप्ति नहीं कर सकता। आप सब इतनी कथा सुनकर भी सदा अतृप्त से ही बने रहते हैं, सदा श्रवण करने को ही उत्सुक रहते हैं। मेरे कहने में ही कोई दोष होगा, जो आपको भली भाँति सन्तोष नहीं होता।"

इस पर ऋषियों ने सूतजी से कहा"—नहीं, सूतजी! ऐसी बात नहीं है। अल्पकाल से क्या होता है? जो भगवान् के भक्त हैं, जिनकी श्रीकृष्ण चरणारविन्दों में अहैतुकी भक्ति है, उनका यदि एक क्षण भी सङ्ग मिल जाय, तो उस क्षण भर के सत्सङ्ग सुख की बराबरी हम स्वर्ग तथा मोक्ष सुख के साथ भी नहीं कर सकते। फिर इस मर्त्यलोक के क्षण-भंगुर अनित्य, नाशवान् सुखों की तो बात ही क्या है? सूतजी! भक्तों के सत्सङ्ग में कितना सुख होता है, उनकी वाणी में कितनी मिठास होती है, यह कहने की बात नहीं, अनुभव करने की बात है। जहाँ कई भक्त मिलकर भगवत् चर्चा करते हैं, वहाँ सत्सङ्ग रूपी सुरसरि का सुन्दर, स्वच्छ, सुखकर, सर्व हितकारी प्रवाह बहने लग जाता है, जिसमें निमज्जन करने से संसार-ताप से संतप्त प्राणी निस्ताप बन जाते हैं।

"रही तृप्ति की बात, सो, सूतजी! जिसे भगवत् कथा का तनिक भी रस प्राप्त हो चुका है, जिसकी जिह्वा से उस मधु-

राति मधुर रस की एक विन्दु भूलकर भी छू गया है, फिर भला वह कभी कृष्णकथा को छोड़ सकता है? उसकी कभी तृप्ति हो सकती है? शेषजी अपने सहस्र फणों से भगवत् कथाओं का निरन्तर वर्णन करते रहते हैं। अनेक कल्प जीवी चिरञ्जीवी ऋषि, मुनि तथा सिद्ध सृष्टि के आदि से अन्त तक निरन्तर सुनते रहते हैं, उनकी भी तृप्ति नहीं होती। इस रस के निरन्तर पान करते रहने पर भी उनकी तृष्णा अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। अन्य लोगों की बात जाने दीजिये। जो ब्रह्माजी तथा सदाशिव—जिन भगवान् के अभिन्न स्वरूप समझे जाते हैं, वे भी उन निर्गुण निराकार श्रीहरि के गुणों का पार नहीं पा सकते। ये भी अपने को भगवान् के सम्पूर्ण गुण वर्णन करने में असमर्थ पाते हैं।"

"सूतजी! आप पर भगवान् की कृपा है, आपको भगवान् के चरित्रों में आनन्द आता है, आपकी वाणी में रस है, आप भगवत् कथा कहते-कहते स्वयं भी गद्‌गद् हो जाते हैं, आपके सम्पूर्ण शरीर में सभी सात्विक विकारों का उदय हो जाता है, आप वर्णन करते-करते तन्मय हो जाते हैं। इसलिये देखिये, न तो आपको कोई संसारी कार्य है और न हमें ही। संसारी लोग हम साधुओं को बेकार निठल्ले समझते हैं, समझें। हमने किसी की समझ का ठेका नहीं लिया है। जिसकी जैसी समझ है, वह अपनी समझ के अनुसार ही समझेगा और सच्ची बात यह है, कि हम संसार की ओर से निठल्ले ही हैं। हमारा तो एक मात्र कार्य कृष्ण कथा श्रवण करना और कृष्ण नाम का सबके साथ मिलकर कीर्तन करना, यही रह गया है। आप सुनाने को उत्सुक हैं, हम सुनने को लालायित हैं। आप कहते-कहते नहीं थकते, हमारा सुनते-सुनते पेट नहीं भरता।

संसार में तो चारों ओर कलियुग छा गया है। इन कलियुगी जीवों को तो तड़कीले भड़कीले संसारी समाचार सुनने का ही व्यसन पड़ गया है। उन्हें ये भगवत् कथायें अच्छी नहीं लगतीं। उन्हें इनके श्रवण करने में आनन्द नहीं आता। इसलिये आप घूम-घूम कर प्रचार करने की वासना को तो दीजिये छोड़। आइये, आप हमें विस्तार के साथ भगवान् श्यामसुन्दर के अति मनभावने, हृदय को सरल और सरस बनाने वाले चरित सुनाइये, लीलाधारी की लीलाओं का कथन कीजिये। इस प्रकार हम मिल जुलकर कृष्ण कथा करते हुए काल क्षेप करें। समय की सार्थकता भगवत् चर्चा में ही है।

"आपने महाराज परीक्षित् के उत्तर चरित का अत्यन्त ही संक्षेप में वर्णन किया। आप ही पहिले कह चुके थे, कि कथा कहने की प्राचीन प्रणाली ऐसी ही होती है, कि किसी बात को पहिले संक्षेप में कहते हैं, फिर उसका विस्तार के साथ वर्णन करते हैं। अतः हम महाराज परीक्षित् के निधन के समाचार को सुनने को उत्सुक हैं। महाराज परीक्षित् को ब्राह्मण का शाप क्यों हुआ? वे राज्य-पाट छोड़कर गङ्गा किनारे कैसे चले गये? इतने ऋषि मुनि वहाँ तुरन्त कैसे आ गये? परमहंस शिरोमणि, विरक्त, अवधूत, व्यासनन्दन भगवान् शुक वहाँ कहाँ से आ गये? महाराज परीक्षित् ने उनसे क्या-क्या प्रश्न किये? श्री शुकजी ने उनका क्या उत्तर दिया? महाराज परीक्षित् बड़े धर्मात्मा साधु सेवी और गुणी थे, वे जहाँ श्रोता और प्रश्न करता हों और उसी प्रकार ज्ञान, भक्ति, त्याग, वैराग्य के साक्षात् साकार स्वरूप महामुनि शुकदेव जहाँ वक्ता और संशय छेत्ता हों, उन दोनों का जो सम्वाद हुआ होगा, वह तो अत्यन्त ही अद्भुत होगा। उसमें तो सर्वत्र भगवान् और

भागवतों की ही महिमा का वर्णन हुआ होगा। कृपा करके इन सब बातों को आप विस्तार के साथ हमें सुनावें। समय का संकोच न करें, समय अनन्त है। विस्तार भय से किसी विषय का अधूरा वर्णन न करें, क्योंकि अधूरी बात समझ में आती नहीं। इस प्रकार सरलता के साथ समझाइये, कि किसी भी श्रेणी के लोग समझ सकें। शास्त्रीय दाँव पेंच को छोड़कर जैसे भगवत् चरित्र हैं, उसी सरलता के साथ समझावें। महाभागवत् महाबुद्धिमान, महामहिम, महामना महाराज परीक्षित् जिस ज्ञान के श्रवण करने से गरुड़ध्वज भगवान् वासुदेव के चरण कमलों में सदा के लिए लीन हो गये, उस ज्ञान को आप हम सबके सम्मुख कहिये तथा महाराज परीक्षित् का अद्भुत चरित्र भी हमारे सम्मुख वर्णन करें।"

इतना कहकर सभी ऋषि सूतजी की ओर उत्सुकता के साथ एकटक भाव से निहारने लगे।

छप्पय

शौनकादि मुनि कृष्ण कथा सुनि अति हर्षाये।
आशिष दीन्हीं दौरि हृदय तें सूत लगाये॥
अश्रु विमोचन करें सूत तें पूछें पुनि पुनि।
तृप्त न होवें मधुर सुखद हरिलीला सुनि सुनि॥
सब ऋषि बोले—सूतजी, पुनि हरि के गुन गाइये।
नृपति परीक्षित् चरित शुभ, शुक सम्वाद सुनाइये॥

—:०:—

परीक्षित् शमीक मुनि के आश्रम में

(७६)

एकदा धनुरुद्यम्य विचरन् मृगयांवने।
मृगाननुगतः श्रान्तः क्षुधितस्तृषितो भृशम् ॥
जलाशयमचक्षाणः प्रविवेश तमाश्रमम्।
ददर्श मुनिमासीनं शान्तं मीलितलोचनम् ॥१

(श्रीभा० १ स्क० १८ अ० २४,२५ श्लो०)

छप्पय

गद्गद् ह्वै के सूत ऋषिनि तें बोले बानी।
कृष्ण कृपा को पात्र बन्यों अब मैंने जानी ॥
कृष्ण चरित हैं अमित सभी मति सरिस सुनावैं।
निज बल के अनुसार पक्षि नभ माँहि उडावैं ॥
कीर्तनीय गुण कर्म अति, जिनके परम उदार हैं।
धनि धनि ते नर तिनहिं जे, सुनहिं गुनहि धुनि तें कहैं ॥

जो जिस गुण का ज्ञाता नहीं, यदि वह उसी गुण के गुणी की प्रशंसा करता है, तो बुद्धिमान् पुरुष उससे उतने प्रसन्न नहीं होते। यही नहीं—वे उसे परिहास समझते हैं, किन्तु उस गुण

---

१ एक दिन महाराज परीक्षित् हाथ में धनुष-बाण लिए हुए मृगया के निमित्त वन में गये। मृगों का पीछा करते-करते वे बहुत

का मर्मज्ञ यदि प्रशंसा करता है, तो गुणी अपने गुण की सफलता समझते हैं। उनका रोम-रोम प्रसन्नता से खिल जाता है। वे अपने परिश्रम को सार्थक समझते हैं और प्रशंसा से अत्यन्त उत्साहित होकर अपनी कला को और भी उत्तमता से प्रदर्शित करते हैं।

जब ऋषियों ने सूतजी की भगवत् भक्ति की, उनकी कथा कहने की शैली की भूरि-भूरि प्रशंसा की, तो सूतजी का हृदय स्नेह से भर आया। उनका कंठ गद्‌गद् हो गया, नेत्रों से प्रेम के अश्रु निकलने लगे। वे अपने प्रेम के वेग को रोककर बड़ी कठिनता से गद्‌गद् स्वर में कहने लगे। उनके शब्द स्पष्ट नहीं निकल रहे थे। वे आँसू पोंछकर बोले—"ऋषियो! आज मैं धन्य हो गया। देखिये, नीच कुल में उत्पन्न होने वाला पुरुष जब सज्जनों की सभा में बैठता है, तो उसे अपनी कुलागत नीचता की एक मानसिक व्यथा होती है। किन्तु नीच पुरुष भी जब ज्ञान वृद्ध भगवद् भक्तों का अनुवर्तन करने लगता है, उनका सत्सङ्ग करता है, तो उसकी मानसिक व्यथा दूर हो जाती है। महात्माओं का सत्सङ्ग, उनकी श्रद्धा से की हुई सेवा, भगवद् भक्ति यह सभी प्रकार की नीचता का नाश करने में समर्थ है। मेरा जन्म विलोम जाति में हुआ है। ब्राह्मणी माता में क्षत्रिय वीर्य से सूत जाति की उत्पत्ति हुई है। हमें द्विजातियों के सम्मुख उच्चासन पर बैठने का नियमानुसार अधिकार

थक गये थे और भूख-प्यास से भी बहुत अधिक व्याकुल हो गये थे। इधर-उधर दृष्टि दौड़ाने पर भी उन्हें कोई जलाशय दिखाई नहीं दिया। अन्त में वे समीप ही एक ऋषि के आश्रम में घुस गये। भीतर जाकर उन्होंने देखा कि एक मुनि शान्त भाव से नेत्र बन्द किये हुए बैठे हैं।

नहीं है, किन्तु आप सब जो मेरा इतना आदर सत्कार कर रहे हैं, आचार्य और गुरु की भाँति मानकर पूज रहे हैं, इसका कारण मैं नहीं, भगवान् के चरित हैं। गुरुदेव भगवान् श्रीशुकदेवजी की कृपा का यह प्रत्यक्ष प्रसाद है, जो मैं आज आप इतने ज्ञान-वृद्ध कुलीन मुनियों को कथा सुनाकर कृतार्थ हो गया। भक्तों के संसर्ग से श्वपच भी पूज्य बन जाता है, फिर जो साक्षात् श्रीहरि के सुमधुर नामों का कीर्तन करता है उन्हें उच्च स्वर से गाता है, उनके लिये तो कहना ही क्या? जितने अनन्त गुण भगवान् में हैं उतने ही उनके त्रैलोक्य पावन नामों में हैं। भगवान् के नामों का कोई प्रत्यक्ष वर्णन नहीं कर सकता। उनका कुछ अनुमान किमुतक न्याय से किया जाता है। किमुतक न्याय उसे कहते है जो छोटे की महत्ता या लघुता का वर्णन करके उस महत्ता या लघुता के साथ बड़े की महत्ता या लघुता को बड़ी बताते हैं। जैसे जिसकी फूँक से सुमेरु उड़ जाता है, उससे तृण का उड़ जाना कौन सी बात है। अगस्त्यजी समुद्र को एक चुल्लू में पी गये उनके लिये एक पंचपात्र का जल क्या है। यहाँ अगस्त्यजी की महत्ता बतानी है। समुद्र महान् है उसे पी जाना ही बड़े आश्चर्य का काम है, उनके सम्मुख समुद्र से छोटे जितने जलाशय हैं, वे सब तुच्छातितुच्छ हैं। अर्थात् उनकी शक्ति समुद्र से भी बहुत अधिक बड़ी है। इसी प्रकार जब भगवान् की महत्ता का वर्णन किया जाता है, तो जो सबसे महान् लक्ष्मीजी समझी जाती हैं, पहिले उनकी महत्ता बताते हैं।

जिन लक्ष्मीजी की ब्रह्मादिक देवता सदा उपासना करते रहते हैं, कि ये एक बार हमारी ओर कृपा कटाक्ष से देख

भरे लें। वे इतनी महान् से महान् प्रभाव वाली लक्ष्मी जिन के पादपद्मों की निरन्तर सेवा करती रहती हैं। वे उन्हें चाहते भी नहीं, तो भी वे श्रीहरि के चरणारविन्दों का त्याग कर एक क्षण भी नहीं जातीं उनकी महत्ता की तुलना किससे की जाय? उनके सम्पूर्ण भाव को वर्णन करने की सामर्थ्य किसमें है?

श्रीहरि के सम्पूर्ण अंगों की तो कथा ही अलग है, उनके पादपद्म में लगी मकरन्द का ही इतना प्रभाव है, कि उससे संसर्ग हुआ जल ही समस्त लोकों को पावन बनाने की सामर्थ्य रखता है। जग को पावन बनाने वाली त्रिपथगामिनी भगवती भागीरथी क्या कम हैं? त्रिविक्रमावतार में बलि को छलने के समय जब श्रीभगवान् ने वामन से विराट् रूप धारण किया, तब उनका श्रीचरण सातों ऊपर के लोकों को अतिक्रमण करके ब्रह्मलोक में पहुँचा। वहाँ उस चरण के चमकीले अंगुष्ठ नख को ब्रह्माजी ने अपने कमण्डलु जल से धोया। बस, उसी से जगद्वन्द्य सुरसरि की निर्मलधारा निकल पड़ी। ऊपर के सभी लोकों को पावन बनाती हुई जब उसने पृथ्वी पर पदार्पण किया, तो उसे परम पावन पय समझकर पशुपति भगवान् भोलानाथ शिव ने श्रद्धा सहित अपने सिर पर धारण किया। जिनके एक पद के अंगुष्ठ के धोवन का इतना प्रभाव है, उन्हें छोड़कर परमेश्वर पद वाची भगवान् दूसरा और कौन कहला सकता है?

देखिये, राजर्षियों के और भगवत् भक्तों के घरों में किस वस्तु की कमी होती है? आठों सिद्धियाँ नवों निद्धियाँ हाथ जोड़े उनके समीप खड़ी रहती हैं, किन्तु जिनमें अनुरक्त होकर

वे धीर वीर पुरुष धन, रत्न, स्त्री, पुत्र राज्य पाट यहाँ तक कि अपने शरीर के समस्त सुखों को त्यागकर, त्यागी विरागी बन जाते हैं। परमहंस वृत्ति धारण करके घर-घर से टुकड़े माँगते फिरते हैं, सब प्रकार की हिंसा से रहित होकर वाणी का निरोध करके मननशील मुनि बन जाते हैं, तो फिर उनके गुणों की, सौन्दर्य की, महत्ता और प्रभाव की तुलना किससे की जा सकती है ?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आप तो ऐसी-ऐसी उपमायें देकर भगवान् को अवाच्य सिद्ध कर रहे हैं। तब तो भगवान् के सम्बन्ध में एक भी शब्द नहीं कहा जा सकता।"

सूतजी शीघ्रता के साथ बोले—"नहीं, मुनिवर। मेरा यह अभिप्राय नहीं। हाँ, वास्तव में तो भगवान् के गुण अवाच्य ही हैं, उनको अकथनीय ही कहा गया है, फिर भी बिना कहे रहा भी नहीं जाता। क्योंकि कथन करने योग्य एक केशव की ही कमनीय कीर्ति है। गुणगान करने योग्य गोविन्द के ही गीत हैं। श्रवण करने योग्य पुण्यश्लोक नन्दनन्दन के ही अनुपम चरित्र हैं। सभी ने उनका वर्णन किया है। पारपाने के अभिप्राय से नहीं, अन्त कर डालने की इच्छा से नहीं, अपनी वाणी को पवित्र करने के लिये अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिये ही सभी ने उनका कथन किया है। आकाश अनन्त है, उसका पार पाना असम्भव है, किन्तु उसमें भी पक्षी उड़ते हैं। पार पाने के लिये नहीं, अपनी वृत्ति चलाने के निमित्त, अपनी सामर्थ्य के अनुसार उड़ान भरते हैं। मैं भी अपनी शक्ति के अनुसार, अपनी बुद्धि के अनुसार, अपनी वाणी को पवित्र बनाने के लिये भगवान् और भक्तों के चरित्र का कथन करूँगा। आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

"हाँ, तो आपने मुझसे महाराज परीक्षित् के उत्तर चरित का प्रश्न किया है। उसी कथा को फिर से आरम्भ करता हूँ। महाराज जब दिग्विजय करके अपनी राजधानी हस्तिनापुर में लौटे, तब प्रजा ने बड़े प्रेम और उल्लास के साथ उनका स्वागत किया। समस्त नगरी उसी प्रकार सजाई गई, जैसे विवाह के समय नव वधू सजाई जाती है, अथवा ससुराल जाते समय जैसे दूल्हा बन ठन के जाता है। उत्सव और पर्व के समय जैसे मातायें अपने बच्चों को भाँति-भाँति के वस्त्राभूषणों से अलंकृत करती हैं उसी प्रकार समस्त प्रजा के लोगों ने महाराज के स्वागत में अपने-अपने घर, बिना राजाज्ञा पाये ही सजाये। उसी सजी सजाई नगरी में महाराज ने उसी प्रकार प्रवेश किया, जिस प्रकार वसन्त में भाँति-भाँति के फूलों से फूले वन में सिंह प्रवेश करता है। जैसे इन्द्र अपनी अमरावती नगरी में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार महाराज परीक्षित् ने हस्तिनापुर में प्रवेश किया। चिरकाल में अपने स्वामी के दर्शन करके समस्त प्रजा उसी प्रकार प्रसन्न हुई, जिस प्रकार अत्यन्त उत्कंठिता प्रोषितभर्तृका चिरकाल में परदेश से लौटे अपने पति को पाकर प्रसन्न होती है। नगर में प्रवेश करके राजा ने अपनी समस्त प्रजा को उसी प्रकार समान भाव से यथायोग्य सत्कार करके सन्तुष्ट किया, जिस प्रकार परदेश से आया पिता अपने बहुत से पुत्र पौत्रों को उनके अवस्थानुसार प्यार दुलार करके सन्तुष्ट करता है।

इस प्रकार महाराज परीक्षित् अपने राज्य में आकर सुख के साथ धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करने लगे। उनका न कोई शत्रु था, न प्रतिपक्षी। उनकी मति सदा धर्म-कार्य में

लगी रहती, पाप का वे कभी मन से भी चिन्तन न करते। महाराज की पत्नी बड़ी ही पतिपरायणा थी। वे सदा स्वयं अपने पति की सेवा में लगी रहतीं, उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करतीं। महाराज के जन्मेजय, श्रुतसेन, भीमसेन और उग्रसेन ये चार पुत्र थे। चारों स्वरूपवान् सुशील धर्मात्मा और पितृभक्त थे। महाराज के मंत्री, अमात्य, सेनापति, कोषाध्यक्ष और भी भृत्य नौकर, चाकर भी उनके आज्ञानुवर्ती थे। इस प्रकार महाराज को संसारी सभी सुख प्राप्त थे।

महाराज की प्रिय पत्नी इरावती देवी, जब बच्ची ही थीं, और अपने पिता के घर में ही रहती थीं, तभी उनके यहाँ एक ज्योतिषी आया था। राजकुमारी इरावती का यद्यपि विवाह नहीं हुआ था, फिर भी वह सयानी थी, ऊँच नीच सब समझती थी, उसकी माता ने अपनी बच्ची का हाथ ज्योतिषीजी को दिखाया। मुनियों! माताओं की अपनी पुत्रियों के प्रति एक ही सब से उत्कट आकांक्षा रहती है, कि मेरी बच्ची को अच्छे से अच्छा घर वर मिले जिससे वह सुखी रह सके। आर्यसंस्कृति का कैसा शील संयुक्त सदाचार है। जिन पति पत्नी को साथ रह कर सम्पूर्ण आयु वितानी पड़ती है, उसके सम्बन्ध में वे स्वयं कुछ करते नहीं। माता पिता अपने लड़की-लड़कों के सुन्दर सम्बन्ध के लिये कितने चिन्तित और व्यग्र बने रहते हैं। चढ़ती अवस्था में, यौवन के आवेग में, लड़के लड़कियों को इतना विवेक नहीं रहता, कि वे स्वयं संसार रथ को निरन्तर खींचने के लिये, अपने साथ जूए में जुतने को एक अपने ही समान सुन्दर साथी खोज लें। इसकी चिन्ता

माता पिताओं को ही अधिक रहती है। लड़की-लड़के वैसे हृदय से तो चाहते हैं, किन्तु उनके सामने विवाह की बात कह दो तो वे तुनक जाते हैं, झूठा रोष प्रकट करते हैं। सभी समझदार समझ लेते हैं, कि यह रोष बनावटी है। इस रोष के भीतर एक गूढ़ रहस्य छिपा है। 'मन-मन भावे, मूँड़ हिलावे' वाली बात है। हाँ, तो महारानी इरावती की माता ने ज्योतिषी को हाथ दिखाते हुए सर्व प्रथम यही प्रश्न किया, 'महाराज! यह देखिये, इसके भाग्य में कैसा पति है? इसे कोई सुन्दर राजकुमार पति मिलेगा कि नहीं? यह राजरानी बन सकेगी या नहीं?' लड़की इन प्रश्नों को सुनकर लज्जित हुई, माता ने इसे कसकर गोद में दबा लिया। ज्योतिषीजी देखने लगे। हाथ देखते-देखते ज्योतिषीजी बोले—'महारानी जी! यह इसके हाथ में चक्रवर्ती सम्राट् की पत्नी होने की रेखा पड़ी है। यह राजर्षि की पत्नी होगी और स्वयं ऐसे चार राजर्षि पुत्र उत्पन्न करेगी, जो संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध होंगे और बड़े-बड़े अश्वमेधादि यज्ञ के करने वाले होंगे। यह सबकी स्वामिनी बनेगी। सभी इसके सम्मुख सिर झुकावेंगे, किन्तु एक ऐसी अशुभ रेखा पड़ी है, कि उसका फल मैं कहना नहीं चाहता।'

महारानी के हृदय में बड़ी शंका हो गई। यों कोई अनिष्ट वाली बात होगी और उसकी सूचना ज्योतिषी न देते तब तो कोई बात ही नहीं थी। अधूरी बात सुनकर उसे भली भाँति जानने की सभी की उत्कट इच्छा होती है। यह स्वाभाविक बात है, कि छिपी वस्तु को जानने की लालसा अत्यधिक होती है।

रानी ने आग्रह के स्वर में कहा—'नहीं महाराज! आप

कोई चिन्ता न करें, मुझे अनिष्ट की रेखा का फल अवश्य बतावें जिससे अभी से उसके निवारण का उपाय किया जाय।"

जब रानी ने बार-बार आग्रह किया और अनिष्ट रेखा के फल को सुनने की अत्यधिक उत्कंठा प्रकट की, तब तो विवश होकर दैवज्ञ ज्योतिषी को सब बात कहनी ही पड़ी। ज्योतिषी ने कहा—"महारानीजी, जब ये राजरानी हो जायँगी और चार पुत्र हो जायँगे, तब इनके पति एक दिन दक्षिण दिशा को मृगया के लिये जायँगे। आखेट में वे बहुत से जङ्गली जीवों को मारेंगे। उसी समय एक बलवान् हिरन का पीछा करते-करते, एक ऋषि के आश्रम पर पहुँच जायँगे। वहाँ ऋषि का कुछ अनिष्ट करने से उनके शाप से ही इनके पति की मृत्यु होगी।"

इस समाचार को सुनकर रानी को बड़ा दुःख हुआ। कुमारी इरावती का भी मुख सूख गया। अपनी विकलता छिपाने को वह माँ की गोद में से उठकर चली गई। ज्योतिषी भी उदास होकर बिना दान-दक्षिणा लिये लौट गया।

कालान्तर में कुमारी इरावती का महाराज परीक्षित् के साथ विवाह हुआ। इरावती इतनी अधिक सुन्दरी थी, कि महाराज ने आते ही अपना हृदय उन्हें अर्पण कर दिया। दोनों राजा रानी संसारी भोगों का भोग करते हुए हस्तिनापुर में इन्द्र और सची के समान सुखपूर्वक रहने लगे। रानी के मन में तो एक खटक लगी हुई थी। उसे ज्योतिषी की बात भुलाने पर भी नहीं भूलती थी।

एक दिन एकान्त में रानी ने अपना सम्पूर्ण स्नेह बटोर कर उसे महाराज के ऊपर उड़ेलते हुए कहा—"प्राणनाथ!

यह मेरा बड़ा सौभाग्य है, कि आप मुझे हृदय से इतना प्यार करते हैं। आप मुझे ऐसे-ऐसे भोगों को देते हैं, जो स्वर्ग में देवाङ्गनाओं को भी दुर्लभ हैं। फिर भी मैं आप से एक वरदान माँगना चाहती हूँ। यदि आप उसे देने का वचन दें तो निवेदन करूँ।"

अपनी प्रिया के ऐसे स्नेह में सने हुए वचन सुनकर महाराज ने उनकी आँखों में अपनी प्रेम-दृष्टि को डालकर और उनका अलिंगन करते हुए कहा—"प्रिये! आज तुम कैसी बातें कर रही हो? आज तो तुम ऐसी बातें कर रही हो, कि मैं कोई और हूँ, तुम और हो। अपनों से ऐसे थोड़े ही कहा जाता है? अभिन्न हृदयों में शिष्टाचार को स्थान नहीं। मेरा सर्वस्व तुम्हारे सुख के लिये है, मुझसे वरदान क्या माँगना, प्रार्थना क्या करनी, मुझे आज्ञा दो। तुम समस्त प्रजा की ही रानी नहीं हो, मेरे हृदय की भी रानी हो। तुम्हारे हृदय में जो इच्छा उठी हो उसे पूरी ही समझो। बोलो, अपने सेवक के लिये क्या आज्ञा देती हो।'

रानी ने प्रेम-कोप के स्वर में कहा—"देखो, तुम मुझसे ऐसी बातें मत कहा करो। यह जो तुम सेवक, दास कह कर मुझे लज्जित किया करते हो, इससे मुझे बड़ा दुःख होता है। मुझे पता है, कि आप मुझे हृदय से कितना प्यार करते हैं? मुझे अपने सौभाग्य पर सबसे अधिक गर्व है। मैं अपने इस सौभाग्य-सुख को सदा अक्षुण्ण बनाये रखने को व्याकुल रहती हूँ। आप सदा सुखी बने रहें, इसी प्रकार युग-युगान्तर तक मुझे प्यार करते रहें, यही मेरी एक मात्र अभिलाषा है। तुम सदा इस वन-शैलपूर्ण सप्त द्वीप

वाली वसुन्धरा के शासन के साथ मेरे हृदय पर भी इसी प्रकार शासन करते रहो, यही मेरी सर्वोत्कृष्ट मनोरथ है। जिस कार्य के करने से आपके अनिष्ट की अणुमात्र भी आशंका हो, उसे मैं न तो स्वयं ही कभी स्वप्न में भी करना चाहती हूँ और न तुम्हें ही करने देना चाहती हूँ। मेरी प्रार्थना यही है, कि आप कभी भूलकर भी दक्षिण दिशा को न जायँ।'

महाराज हँसते हुए बोले—"क्यों, बात क्या है ? बताओ क्यों न जाऊँ ? मैं तो चारों दिशाओं का चक्रवर्ती राजा हूँ। मुझे सब दिशाओं में जाना पड़ता है।"

रानी ने अपना अधिकार जनाते हुए कहा—"देखो, मैं इसीलिये तो कहती नहीं थी, कि तुम मानोगे नहीं। बड़े हठी हो। अपने बाहुबल के सामने तुम किसी की भी सुनते नहीं।"

महाराज हँसते हुए अपनी बात पर बल देकर बोले—"कुछ कारण भी बताओ कि वैसे ही आज्ञा निकाल दी कि खबरदार, उधर मत जाना ! यह तो सरकार की आज्ञा अवैध है।"

रानी ने चिढ़ते हुए कहा—"देखो, तुम हर बात में मेरी हँसी मत किया करो। मैं रोती नहीं, मेरा हृदय रो रहा है। मुझे आन्तरिक पीड़ा हो रही है।" इतना कहते-कहते रानी सिसकियाँ भरकर रोने लगी।

महाराज ने उन्हें खींचकर अपने अंक में रखकर उनके आँसू पोंछते हुए अत्यन्त स्नेह से कहा—"बस तुम रोना ही सीखी हो, जब देखो तब टपटप आँसू गिरा दिये। बात तो बतातीं नहीं, बच्चों की तरह रो रही हो। अच्छी बात है, दक्षिण दिशा की ओर न जाऊँगा। और बोलो, वहाँ क्या

करूँ, उस दिशा की ओर कभी सिर करके सोऊँगा भी नहीं। अब तो राजी हुई।

रानी ने आँसू पोंछते हुए कहा—"महाराज, मेरा अभिप्राय यह नहीं है। बात यह है, कि जब मैं अपने पिता के घर में थी, तब एक ज्योतिषी ने मेरी हस्तरेखा और कुण्डली देखकर यह बात बताई थी, कि दक्षिण दिशा में जाने से आपका कुछ अनिष्ट सा होने की सम्भावना है।"

राजा हँस पड़े और बोले—"इन स्त्रियों का हृदय सदा शंका से ही भरा रहता है। किसी ने कुछ कह दिया, उसी को सत्य समझकर दुखी बनी रहती हैं। यह कैसे हो सकता है, मैं दक्षिण दिशा की ओर न जाऊँ। नित्य ही मुझे उधर जाना पड़ता है। मेरी सभा से तुम्हारा भवन उत्तर में ही है। तुम कहो कि मेरे महल से अब आप सभा में न जाया करें, क्योंकि वह दक्षिण में है—तो यह कैसे होगा? फिर तो सदा मैं तुम्हारे ही पास बैठा रहूँ, राज-काज करूँ ही नहीं।"

रानी ने कोप के स्वर में कहा—"तुमसे कोई शास्त्रार्थ करके तो जीत नहीं सकता। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि आप दक्षिण दिशा की ओर जायँ ही नहीं। जायँ, राज-काज के लिये जायँ। उधर शिकार खेलने न जायँ।"

महाराज शीघ्रता से बोले—"यह भी कैसे हो सकता है? उधर किसी सिंह व्याघ्र ने जनता को सताना आरम्भ कर दिया, तो उसे मारने मैं नहीं जाऊँगा? उस समय तो मैं हजार काम छोड़कर जाऊँगा।"

रानी ने कहा—"मैं उस समय जाने को मना नहीं करती। उस समय उसे मारने को आप जायँ किन्तु उसे मारकर

तुरन्त लौट आवें। स्वेच्छा से उधर मृगया को भूलकर भी न जायँ। यदि जाना ही हो, तो उधर किसी ऋषि के आश्रम पर न जायँ। यदि पहुँच ही जायँ यो वहाँ बैठें नहीं।"

राजा बोले—"यह तुम अच्छी पट्टी मुझे पढ़ा रही हो ऋषि के आश्रम पर न जाऊँ, उनका आतिथ्य स्वीकार न करे राजा के लिये यह कैसे सम्भव हो सकता है ?"

रानी ने अत्यन्त कुपित स्वर में कहा—"तुम तो बाल की खाल निकलवाना चाहते हो। ऐसी ही तर्क की बातें कर करके लोगों से झूठ सच उगलवा लेते होगे राजसभा में। देखो, अब मैं तुमसे सच्ची बात कहती हूँ। वह ज्योतिषी साधारण नहीं था। उसने कहा था—दक्षिण दिशा में किसी ऋषि का अपराध करने से आपका अनिष्ट हो सकता है। अतः आप दक्षिण दिशा में भूलकर किसी ऋषि के आश्रम पर चले भी जायँ, तो कभी मन में भी उनका अपमान या अन्य किसी प्रकार का अपराध करने की बात न सोचें।"

राजा ने कहा—"मैं भंग नहीं पीता, और कोई नशा पत्ता नहीं करता। किसी ऋषि का अपमान क्यों करने लगा ? ब्राह्मणों से, ऋषि मुनियों से तो मैं सदा डरता रहता हूँ। तुम मेरी ओर से निश्चिन्त रहो। ऐसा अनुचित कार्य मेरे द्वारा कभी स्वप्न में भी नहीं हो सकता।" इस आश्वासन को पाकर रानी को प्रसन्नता हुई, किन्तु उनके मन में शंका बनी ही रही। जब भी अवसर देखती, महाराज से पूछ लिया करती—"आप दक्षिण दिशा की ओर तो मृगया के निमित्त नहीं गये ?" महाराज हँसकर कह देते—"मेरे दो सिर होते, तो महारानी की आज्ञा के उल्लंघन करने का साहस भी करता।

मैं ऐसा अपराध भला कैसे कर सकता हूँ।" रानी हँस जाती, कुपित हो जाती और कभी-कभी कह देती—"अच्छी बात है, नहीं मानते हो तो, ऐसे ही सही। मेरी आज्ञा ही है। तुमने यदि कभी भूल करके भी मेरी आज्ञा भङ्ग की, तो फिर......!"

महाराज कहते—"हाँ, हाँ, कहो, ठीक कह रही हो, रुकती क्यों हो, तो फिर क्या?"

रानी निरुत्तर सी होकर कहती—"तो फिर क्या? फिर मुझसे बुरा कोई न होगा।"

महाराज कहते—"तुम से बुरा मैं हूँ, जो तुम्हारी आज्ञा भङ्ग करने का विचार करूँ।" इस प्रकार दोनों में इसी एक विषय पर बार-बार वाद-विवाद होता। अपना जीवन सभी को प्यारा होता है, इस डर से और रानी की प्रसन्नता के लिए भी राजा कभी भूलकर भी दक्षिण दिशा में मृगया के निमित्त न जाते।

दिग्विजय करके जब राजा लौटे और कलियुग उनके मुकुट में घुस गया, तो एक दिन वे अपने मन्त्री सेवकों के साथ शिकार के लिये नगर के बाहर निकले। उस दिन प्रारब्ध के वश या मुकुट में बैठे कलियुग की प्रेरणा के वशीभूत होकर राजा के मन में आया—"मेरी रानी मुझे बार-बार दक्षिण दिशा में आखेट के लिये जाने से रोका करती है। आज इधर ही चलें। देखें इधर क्या होता है? उसने ऋषि मुनियों का अपराध करने के लिये भी मना किया था, सो वह मैं कभी करता ही नहीं। आज इधर ही चलें।" ऐसा सोचकर महाराज ने अपने साथी और सेवकों को दक्षिण

की ही ओर चलने की आज्ञा दी। उधर जाकर महाराज ने बहुत से सिंह, व्याघ्र, शूकर आदि हिंस्र जीवों को मारा। इतने में ही महाराज की दृष्टि एक बड़े भारी मोटे ताजे लम्बे-लम्बे सींग वाले मृग पर पड़ी। उन्होंने उसी के पीछे अपना घोड़ा दौड़ाया। हिरन भी चौकड़ियाँ भरता हुआ वायु-वेग से भागने लगा। हिरन का पीछा करने से महाराज के सभी साथी छूट गये, सैनिक इधर-उधर हो गये। अङ्ग-रक्षकों के घोड़े इतने तेज दौड़ न सके, अतः राजा अकेले ही रह गये। एक घोर जङ्गल में जाकर हिरन न जाने कहाँ अदृश्य हो गया।

बहुत वेग से घोड़ा दौड़ने से महाराज बुरी तरह से थक गये थे। उनके सम्पूर्ण शरीर में पीड़ा सी होने लगी। प्रातः से अभी जलपान भी नहीं किया था, अतः भूख भी बड़े जोरों से लग रही थी, प्यास के कारण गला सूख रहा था। साथी सेवक जिनके पास भोजन की सामग्री और गंगा जल की झारी थी, वे पीछे रह गये थे। महाराज चारों ओर दृष्टि दौड़ा कर किसी जलाशय को खोज रहे थे। उस घोर वन में उन्हें कहीं भी जल दिखाई नहीं दिया। थोड़ी दूर घोड़ा बढ़ाकर ज्यों ही वे आगे बढ़े, त्यों ही उन्हें एक ऋषि का आश्रम दिखाई दिया। महाराज को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने सोचा—"ऋषि के यहाँ चलेंगे। अपने आश्रम में जब वे अपने देश के चक्रवर्ती राजा को देखेंगे, तो सत्कार करेंगे, पैर धोने को जल देंगे, अर्घ्य प्रदान करेंगे और खाने को सुन्दर स्वादिष्ट फल तथा पीने को शीतल सुगन्धित गंगाजल देंगे।" यही सब सोचकर महाराज ने उधर ही जल्दी से अपना घोड़ा बढ़ा दिया।

वह महामुनि शमीक ऋषि का आश्रम था। ऋषि बड़े

योगाभ्यासी थे। एकान्त में बैठकर समाधि द्वारा परब्रह्म का ध्यान किया करते थे। जिस समय वे समाधि में तल्लीन हो जाते, उस समय उन्हें इस बाह्य—जगत् का भान ही न रहता। सभी प्रपंच की विस्मृति हो जाती। और परम प्रकाश रूप आत्मा में अपनी समस्त वृत्तियों को लीन कर लेते।

महाराज ने घोड़े को बाहर ही एक वृक्ष से बाँध दिया और वे पादत्राण उतार कर आश्रम में घुस गये। आश्रम गौ के गोबर से स्वच्छ लिपा पुता था। एक एकान्त स्थान में समाधि में निमग्न शमीक मुनि बैठे थे। वे समाधि में ऐसे तल्लीन थे, कि उन्हें महाराज के आने का भान ही न हुआ महाराज, थोड़ी देर खड़े रहे। मुनि का मुख मण्डल तेज से देदीप्यमान हो रहा था। वे समस्त इन्द्रियाँ, प्राणों तथा मन और बुद्धि के निरुद्ध हो जाने से परम शान्त होकर दिव्य सुख का अनुभव कर रहे थे। वे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से ऊपर उठकर, निष्क्रिय हुए तुरीयपद जो ब्रह्मस्वरूप है, उसमें स्थित थे।

मुख मण्डल शान्त था, सुवर्ण के समान पीली-पीली जटायें उनके मुख मण्डल पर बिखर रही थीं। वे उनके रक्तवर्ण के मुख पर ऐसी प्रतीत होती थीं, मानों किसी गेरू के पहाड़ के शिखर पर पीले साँपों के बच्चे लटक रहे हों। काले हिरन का चर्म वे ओढ़े हुये थे। उससे ऐसे प्रतीत होते थे। मानों प्रज्वलित अग्नि को राख ने ढक लिया हो। धर्मात्मा राजा उन तपस्वी मुनि को देखते रहे। किन्तु वे तो भूख प्यास से इतने व्याकुल थे, कि उन्हें और कुछ सुहाता ही नहीं था। थोड़ी देर खड़े रहने पर भी जब मुनि ने आँखें नहीं खोलीं, तब तो वे अधीर

हो उठे। उन्होंने जोर से पुकारा—"मुनिवर! मैं इस देश का राजा परीक्षित आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ। भगवन्! मैं बहुत भूखा हूँ, मुझे प्यास भी बड़े जोरों से लग रही है, मेरे सभी साथी पीछे छूट गये हैं, आपके पास पानी हो तो मुझे पिलाइये।"

मुनि तो तुरीयावस्था में थे, उनके लिये तो जाग्रत जगत् के व्यापार सभी विलुप्त हो गये थे। सभी इन्द्रियों की वृत्तियाँ परात्पर तत्व में जाकर विलीन हो गई थीं, मुनि ने महाराज की बात सुनी ही नहीं। इसी समय कलियुग ने अपना प्रभाव दिखाया। भूख प्यास में मनुष्य अपने विवेक को खो बैठता है। उसे धैर्य नहीं रहता। सद् असद् का निर्णय करने में वह समर्थ नहीं होता। कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान लुप्त हो जाता है। महाराज को भी उस समय क्रोध आ गया और वे अपने मन में भाँति-भाँति की कल्पनायें करने लगे।

वे सोचने लगे—"देखो, यह मुनि है कि ढोंगी। इसके आश्रम पर मैं आया हूँ। चाहिये तो यह था, पहिले से ही मेरा सत्कार करता। बैठने को आसन देता, यदि आसन न होता तो भूमि ही बता देता। राजा समझकर अर्घ्य देता। मीठी वाणी से कुशल क्षेम पूछता। यह सब तो करना अलग रहा। माँगने पर पानी भी नहीं देता, बार-बार पुकारने पर बोलता भी नहीं। इसे अपनी तपस्या का बड़ा अभिमान है। सोचता होगा—ये राजा होंगे तो अपने घर के, मैं भी तो

तपस्वी हूँ। क्यों उठकर इसका सम्मान करूँ ?" इस प्रकार महाराज ऋषि के न उठने पर अपना घोर अपमान समझने लगे और उस ऋषि से अपनी अवज्ञा का बदला लेने की बात सोचने लगे।

छप्पय

मुनिवर ! उत्तर चरित उत्तरा सुत को सुनिये।
है अति भावी प्रबल करहिं अनुभव सब मुनि ये॥
दक्षिण दिशि कूँ एक दिना नृप धनुधरि धाये।
भूख प्यास तें दुखित भये, मुनि आश्रम आये॥
करहिं तपस्या तहाँ पै, मुनि शमीक बैठे अचल।
पानी माँग्यो मुनि नहिं, सुन्यो भये नृप अति विकल॥

विधि के विधान की प्रवलता

(७७)

अलब्धतृणभूम्यादिरसंप्राप्तार्घ्यसूनृतः ।
अवज्ञातमिवात्मानं मन्यमानश्चुकोप ह ॥
अभूतपूर्वः सहसा क्षुत्तृड्भ्यामर्दितात्मनः ।
ब्राह्मणं प्रत्यभूद् ब्रह्मन् मत्सरो मन्युरेव च ॥१

(श्रीभा० १ स्क० १८ अ० २८, २९ श्लो०)

छप्पय

आयो नृपकूँ क्रोध द्रोह मुनिवर तें कीन्हों ।
मरयो स्यांपु मुनि नारि माँहि लै पहिरा दीन्हों ॥
कबहुँ न ऐसों करयो काल की कैसी गति है ।
होनों जैसो होय तबहिं तस होवे मति है ॥
विधि विधान है कें रहे, कबहुँ होय नहिं व्यर्थ यह ।
पांडव नल अरु राम के, चरित बतावें तत्व यह ॥

यदि संसार में प्रारब्ध की प्रवलता न होती, तो ज्योतिष-शास्त्र व्यर्थ ही हो जाता । भविष्य की कोई बात कहना संदिग्ध हो जाता । प्रारब्धवाद वाले कहते हैं, मनुष्य की आयु, सुख-दुःख

१ प्यासे राजा के जल माँगने पर भी जब मुनि ने उन्हें तृण का आसन अथवा भूमि ही बैठने को नहीं दी और न अर्घ्य तथा मधुर

विद्या, संयोग-वियोग, ये जन्म लेने के पहिले ही निश्चित हो जाते हैं। उन्हें पुरुष अपने पुरुषार्थ से टाल नहीं सकता। क्रियमाण कर्मों द्वारा संचित कर्मों को बढ़ाया जा सकता है; किन्तु इस जन्म के प्रारब्ध तो—ज्ञान होने पर भी—शरीर द्वारा भोग कर ही क्षय करने होते हैं। ज्ञानी अथवा भक्त अपने ज्ञान तथा भक्ति के प्रभाव से उनका अनुभव नहीं करते, क्योंकि उनकी वृत्ति सुख-दुःख से ऊँची उठी रहती है, फिर भी शरीर तो प्रारब्ध के अधीन ही है। प्रारब्ध भोगने को ही शरीर मिला है।

ज्योतिषी ने महाराज परीक्षित् के जन्म के समय जो उनके निधन का विधान बताया था, उसका समय आ गया। कलियुग उनके सुवर्ण मंडित मुकुट पर बैठा हुआ था। जब बार-बार पुकारने पर भी महामुनि शमीक की ओर से कोई उत्तर न मिला, अर्घ्य-आसन की बात तो अलग रही, मुनि ने नेत्र खोलकर राजा की ओर देखा तक भी नहीं, तब तो राजा घोर रजोगुण के वशीभूत हो गये। उन्हें मुनि के ऊपर सन्देह ही नहीं होने लगा, उनकी परीक्षा लेने का, उनका अपमान करने का भी मन में दृढ़ निश्चित विचार उठने लगा।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह आप कैसी बात कर रहे हैं? राजा एक तो स्वयं धर्मात्मा तथा ब्राह्मण भक्त थे, वे कभी भूलकर भी किसी तपस्वी, विद्वान्, ब्राह्मण का अपमान

वचनों से उनका सत्कार ही किया, तो राजा अपने को अपमानित मान कर क्रोधित हो गये। हे ब्रह्मन्! ऐसा पहिले कभी नहीं हुआ था, भावीवश भूख-प्यास के कारण महाराज व्याकुल थे। दैव की गति—उन्हें सहसा मुनिश्वर पर ईर्ष्या हुई तथा क्रोध भी आ गया।

नहीं करते थे। कभी किसी ब्राह्मण को शारीरिक दंड नहीं देते थे। वे सदा सत्सङ्ग करते थे। उन्हें इतना भी ज्ञान नहीं हुआ कि मुनि समाधि में हैं। वे मुनि का अनिष्ट करने पर उतारू क्यों हो गये? उन्हें तपस्वी मुनि पर क्रोध क्यों हो आया? आप कहेंगे कि 'उस समय भूख प्यास के कारण उनका विवेक नष्ट हो गया था। उन्हें सद्-असद का विवेक ही नहीं रहा।' यह ठीक है, कि भूख-प्यास से मनुष्य अपने आपे से बाहर हो जाता है, परन्तु ऐसा भी क्या बुद्धिभ्रम! राजा उस दिन जान बूझकर उसी दिशा में आये थे, जिसके लिये रानी उन्हें बार-बार रोका करती थी। अवसर पाते ही मना करती रहती थी। अच्छा, यदि आ भी गये, तो उन्हें ब्राह्मण के आश्रम को देखकर ही समझ लेना चाहिये था कि मेरी रानी इसीलिये मना करती थी। उस समय वे लौट आते। वे मुनि पर इतने क्रुद्ध क्यों हो गये? उनके मन में ईश्वर तुल्य तपस्वी के प्रति ईर्ष्या उदय ही क्यों हुई?"

इस प्रश्न को सुनकर सूतजी बोले—"शौनकजी, इसका उत्तर अब मैं आपको और क्या दूँ। इसके अतिरिक्त की भावी प्रबल थी। होनहार ऐसी ही थी और कुछ कहा नहीं जा सकता। यह सम्पूर्ण संसार दैवाधीन है। विधि के विधान को यदि मिटा देने की सामर्थ्य जीवों में होती, तो रावण, कुंभकर्ण, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, दिलीप, प्रियव्रत जैसे प्रबल पराक्रमी राजा कभी मरते ही नहीं। रावण ने तो अपनी मृत्यु न होने के अनेकों उपाय किये। तपस्या करके बड़े-बड़े दुर्लभ वरदान प्राप्त किये। उसे अपनी मृत्यु का पता भी लग गया था। ब्रह्माजी ने बता भी दिया था, फिर भी उसने उनकी अवहेलना की। अपनी मृत्यु को असम्भव माना। अंत में उसे

भी विधि के विधान के आगे सिर झुका देना पड़ा। उसे भी मानना पड़ा कि भावी को कोई मेट नहीं सकता। प्रारब्ध अन्यथा हो नहीं सकती। जान बूझकर भी उसने दशरथजी को जीवित छोड़ दिया।"

यह सुनकर शौनकजी बोले—"सूतजी! महाराज दशरथजी से रावण की भेंट कहाँ हुई। कहाँ उसने महाराज दशरथ को पाया? उसे कैसे मालूम हुआ कि इनके ही घर मेरे मारने वाला उत्पन्न होगा? इस कथा को हमें सुनाकर तब आगे बढ़िये!"

इस पर सूतजी ने कहा—"हे तपस्वियों के अग्रणी शौनक जी! यह कथा बहुत बड़ी है। इसे मैं यदि विस्तार के साथ आपके सम्मुख वर्णन करूँ, तो इस कथा का प्रवाह रुक जायगा। विषयान्तर तो नहीं कह सकते, क्योंकि भगवत् सम्बन्धी चरित्रों में विषयान्तर होता ही नहीं, इसलिये विस्तार के साथ तो नहीं, पर संक्षेप में इस शिक्षाप्रद सारगर्भित कथानक को मैं आपके सम्मुख सुनाता हूँ। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

सूर्यवंश में एक प्रबल पराक्रमी महाराजा रघु हुए हैं। उनके ही नाम से वह कुल रघुवंशियों का कुल कहलाता है। उनके पुत्र अज हुए और अज के एक पुत्र हुए जिनका महाराज ने नाम दशरथ रखा। राजकुमार दशरथ, बड़े ही शूरवीर, ब्रह्मण्य, सुशील और सभी गुणों के सागर थे। ऐसे सुशील योग्य और होनहार पुत्र को पाकर महाराज की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। वे अपने पुत्र को प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। कुमार अवध के विस्तृत राजमहल में ताराओं के समान चमकने वाली अपनी माताओं के बीच में उसी प्रकार

बढ़ने लगे जिस प्रकार आकाश मण्डल स्थित हुआ शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों से सभी को प्रसन्नता प्रदान करता हुआ नित्यप्रति बढ़ता रहता है। राजकुमार को अस्त्र-विद्या से अत्यधिक अनुराग था। कुछ ही काल में वे सभी अस्त्र-शस्त्रों के छोड़ने, लौटाने आदि की विद्या में पारंगत हो गये। जब वे विवाह के योग्य हुए, तो महाराज अज को अपने पुत्र के विवाह की चिन्ता हुई।

मुनियो! उस समय का ऐसा सदाचार था, कि वर पक्ष के लोग योग्य कन्या को देखकर स्वयं उसकी उसके पिता से याचना किया करते थे। महाराज अज के दशरथजी, अकेले ही पुत्र थे। वे भी अद्वितीय धनुर्धर, परम सुन्दर, महान्गुणी और सभी विद्याओं में पारंगत थे। अतः महाराज की आन्तरिक इच्छा थी, कि मेरे पुत्र का विवाह किसी सर्वगुण संपन्ना कन्या के साथ हो। जिस कन्या के अंग में एक भी कुलक्षण न हो जो सुन्दरी, सुशीला, कुलीन वंश की और ज्योतिष शास्त्र के अनुसार जिसकी रेखायें, अन्य अंगों के लक्षण, जन्म के सभी ग्रह अनुकूल और शुभ हों। यह सोचकर महाराज ने बहुत से ज्योतिषी विद्वानों को बुलाया और उनका सत्कार करके बोले—"हे भूदेवो! आप सभी शुभाशुभ लक्षणों के ज्ञाता हैं। जन्म-पत्री देखकर, हस्त रेखाओं को देखकर तथा शरीर के अन्य, तिल, भौंरी, लहसन, मसा आदि चिह्नों को देखकर तथा अङ्गों की बनावट, छोटे बड़ेपन को देखकर सभी भूत, भविष्य की बातें जानने में समर्थ हैं। मेरे पुत्र के लिये एक ऐसी सर्व—शुभ लक्षण वाली कन्या खोजिये, जिसकी बराबरी वाली दूसरी कन्या इस पृथ्वी मण्डल पर न हो।"

महाराज अज के अभिप्राय को समझकर दैवज्ञ ब्राह्मण सभी देशों के राजाओं के यहाँ गये। जहाँ भी वे सुनते कि अमुक राजा की कन्या अत्यन्त ही रूपवती है, वहीं वे जाते और जाकर कन्या को देखते। इस प्रकार वे पृथ्वी के समस्त बड़े-बड़े राजाओं के यहाँ घूम आये। जैसे शुभ लक्षणों वाली कन्या वे चाहते थे, वैसी उन्हें नहीं मिली। वैसे राजाओं की एक से एक सुन्दरी कन्यायें थीं, किन्तु किसी का कोई लक्षण अशुभ था, किसी का नक्षत्र ठीक नहीं था, किसी के ग्रह अनुकूल नहीं थे। किसी का कोई अंग छोटा बड़ा था। जिसमें वे लोग कुछ भी त्रुटि पाते उसे वहीं छोड़ देते। इस प्रकार समस्त पृथ्वी भ्रमण करने पर भी जब ब्राह्मणों को जैसी वे चाहते थे, वैसी कन्या न मिली तो वे दुखी होकर अयोध्या पुरी को लौटने लगे। पहिले तो वे उत्तर दिशा के राजाओं के यहाँ गये थे, फिर समस्त पश्चिम दिशा में भ्रमण करते हुए दक्षिण देश के राजाओं के यहाँ गये। जब दक्षिण में भी मनोनुकूल कन्या न मिली, तो वे पूर्व दिशा की सब राजधानियों में होते हुए सरयूजी के किनारे-किनारे अयोध्याजी को आ रहे थे। मार्ग में वे एक राजधानी में ठहरे। यह राजधानी अवध राज्य के ही अन्तर्गत थी। एक छोटे से मण्डलीक राजा वहाँ राज्य करते थे और अयोध्या के महाराज को सदा नियत कर दिया करते थे। जब उन्होंने सुना, कि हमारे सम्राट् के ब्राह्मण आये हैं, तो उन्होंने इन सबका बड़ा स्वागत सत्कार किया। पैर धुलाकर विधिवत् अर्ध्य दिया और धूप दीप आदि से उन भूसुरों की पूजा की। जिस समय राजा उन वृद्ध ब्राह्मणों की अपने अन्तःपुर में पूजा कर रहे थे, उस समय राजा की रानी भी वहाँ उपस्थित थी। राजा की

परम सुन्दरी कन्या बड़े शील-संकोच के साथ अपने पिता के कार्य में सहायता दे रही थी। ब्राह्मणों की दृष्टि उस लड़की पर पड़ी। उन्होंने पूछा—"राजन् ! यह आपकी ही पुत्री है ?"

हाथ जोड़कर विनीत भाव से राजा ने उत्तर दिया—"हाँ, महाराज ! आपकी ही कन्या है।"

ब्राह्मणों ने उस लड़की को पुचकारते हुए अत्यन्त स्नेह से कहा—"बेटी, यहाँ तो आ ! ला तेरा हाथ देखें !" यह सुनकर लड़की अत्यन्त ही लजाती और सकुचाती अपने पिता के मुख की ओर देखने लगी। पिता ने अत्यन्त स्नेह से पुचकारते हुए कहा—"हाँ, जा बेटी, महाराज बुलाते हैं। जा अपना हाथ दिखा ! अरे, तू तो सकुचाती है। ये ब्राह्मण ही तो हमारे माता पिता हैं। इनसे क्या संकोच ?"

अपने पिता की आज्ञा पाकर अपने सभी अंगों को सिकोड़े हुए अत्यन्त लज्जा के साथ लड़की नीचा सिर किये ब्राह्मणों के समीप गई। जाकर उसने सावधानी से अपने वस्त्रों को सम्हाल कर भूमि में सिर रखकर ब्राह्मणों को प्रणाम किया और चुपचाप सिर झुकाकर उनके सम्मुख बैठ गई। उन ब्राह्मणों में जो सबसे वृद्ध, अनुभवी और शुभाशुभ लक्षण देखने में परम प्रवीण थे, वे उस बच्ची का हाथ देखने लगे। राजकुमारी जितनी अधिक सुन्दरी थी, उससे भी अधिक उसके शुभ लक्षण थे। उसके सभी अङ्गों में एक से एक बढ़कर कल्याणकारी लक्षण थे। ब्राह्मणों ने आज तक इतनी शुभलक्षणोंवाली कन्या कहीं भी नहीं देखी थी। जब वे सम्पूर्ण अंगों के, हस्त रेखाओं के लक्षण देख चुके, तो उन्होंने राजा से कहा "राजन् ! इस बच्ची की हम जन्म-पत्री और देखना चाहते हैं ?"

इतना सुनते ही रानी शीघ्रता से उठीं और अपनी सुवर्ण की पिटारी से भोजपत्र में लिपटी हुई जन्म-पत्री को ले आई और लाकर अपने पति के हाथ में दे दी। राजा ने उठकर जन्मपत्री ब्राह्मणों को दी। राजकुमारी ब्राह्मणों को प्रणाम करके अपने माता के समीप जाकर उससे खूब सटकर बैठ गई। उस समय उसका हृदय धक्-धक् कर रहा था। सयानी लड़की समझ रही थी, कि यह सब मेरे विवाह की भूमिकायें बाँधी जा रही हैं।

सूतजी कहते हैं—"शौनकजी! आप सबने तो विवाह किया ही नहीं, जिससे आपके लड़के-लड़की होते। सयानी लड़की के कुलीन आर्य संस्कृति वाले पिता को पुत्री के विवाह की कितनी अधिक चिन्ता रहती है, इसे बिना पिता बने कोई अनुभव नहीं कर सकता। उसे सबके सम्मुख नवना पड़ता है। अपने से छोटे लोगों के सम्मुख भी दीनता प्रकट करनी पड़ती है। लड़की के हृदय की तो कुछ पूछिये नहीं। वह अपने विवाह के सम्बन्ध की कोई भी बात भूल में भी पिता-माता के सम्मुख नहीं कह सकती। जहाँ ऐसी चर्चा होती है, वहाँ से वह उठ जाती है, मुँह छिपाती है, बात को बदलने का प्रयत्न करती है, किन्तु उसका हृदय धक्-धक् करता रहता है। जैसे कम तैरने वाला पानी में डूबते हुए कभी जल के भीतर चला जाता है फिर उछलता है। कभी किसी मनुष्य की आशा करता है, फिर नौका देखकर आशान्वित होता है। फिर सम्पूर्ण शक्ति लगाकर किसी जहाज की ओर आशा से बढ़ता है। वहाँ से निराश होने पर घास तिनकों की ओर ही आश्रय पाने को बढ़ता है। यही दशा सयानी कुमारी कन्या की होती है। माता-पिता परस्पर में किसी वर की चर्चा करते हैं, छिप-

कर लड़की सब सुनती है। उसके सम्बन्ध में भाँति-भाँति की आशायें बाँधती है। दूसरे दिन सुनती है, वह सम्बन्ध नहीं हो सका। निराश हो जाती है। फिर दूसरे की चर्चा चलती है जब तक उसका किसी के साथ गँठबन्धन नहीं हो जाता, जब तक प्रज्वलित अग्नि के आस-पास पति के साथ सात परिक्रमा नहीं दे लेती, तब तक वह अगाध जल में सदा डूबती और उतराती सी ही रहती है।

ब्राह्मण जन्म-पत्री पढ़ रहे थे, राजा रानी उनकी चेष्टाओं को पढ़ते जाते थे और कन्या अपने हृदय सागर में उठे ज्वार भाटे के प्रवाह में बही जा रही थी। जन्म-पत्री देखकर ब्राह्मणों ने सन्तोष की साँस ली और बोले—"राजन्! हम आपकी कन्या को अपने महाराज अज के राजकुमार दशरथ के लिये माँगते हैं।"

इतना सुनते ही राजा की आँखों में प्रेम के अश्रु आ गये। रानी का मुखमण्डल प्रसन्नता से भर गया। कन्या उठकर भीतर चली गई। राजा इतने अधिक प्रसन्न हुए कि उनकी वाणी गद्गद् हो गई। कुछ काल तक वे कुछ बोल ही न सके। फिर अपने को सम्हाल कर ब्राह्मणों के प्रति अत्यन्त ही सम्मान प्रदर्शित करते हुए बोले—"ब्राह्मणो! यह आप कैसी बातें कर रहे हैं? कहाँ चक्रवर्ती महाराज, कहाँ मैं उनका अत्यन्त ही क्षुद्र एक सेवक? कहाँ पृथ्वी की कुमुदिनी, कहाँ स्वर्ग के चन्द्रमा? सम्बन्ध तो समान गुण वालों में होता है। मेरे पास तो न उतना धन है न सम्पति, कि इतने बड़े महाराज का स्वागत सत्कार भी कर सकूँ।"

ब्राह्मणों ने कहा—"महाराज! हमें आपकी धन-सम्पत्ति से क्या प्रयोजन? हमें तो आपकी कन्या चाहिये। समस्त

पृथ्वी पर हम खोज आये, इतने शुभ लक्षणों वाली कन्या आज तक हमें कहीं नहीं मिली। यों धन सम्पत्ति की कुछ कमी हो, तो महाराज के यहाँ से आ सकती है।"

इस अन्तिम वाक्य से महाराज के हृदय को ठेस लगी। उन्होंने इससे अपना घोर अपमान समझा। वे ब्राह्मणों से कुछ कहना ही चाहते थे, किन्तु तुरन्त वे सम्हल गये। उन्होंने अपनी स्थिति का अनुभव किया, उन्होंने सोचा—अरे, मैं तो कन्या का पिता हूँ। कन्या के पिता को हजार अपमान सहकर भी अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहिये। इसीलिये बाहर से नम्रता प्रकट करते हुए बोले—"महाराज, कन्या आपकी है। आप ही उसके माता-पिता हैं। आप जिसे देना चाहें दे दें, मुझसे पूछने की तो कोई बात नहीं। रही महाराज के स्वागत सत्कार की बात, सो मैं तो उनके अनुरूप तो सेवा कर नहीं सकता। वैसे मेरे द्वार पर सरयूजी बह रही हैं। जल की कोई कमी नहीं। शाक मेरे यहाँ इतना होता है, कि महाराज चाहे जितनी सेना लेकर पधारें। इसलिये मुझे उनके कोप में से कुछ याचना करने की आवश्यकता न पड़ेगी।"

ब्राह्मण समझ गये, कि राजा को बात बुरी लग गई। अतः वे अपनी बात पर लीपा-पोती करते हुए बोले—"नहीं, महाराज हमारा यह अभिप्राय नहीं था, कि आपके यहाँ धन-सम्पत्ति की कमी है। आपके घर में साक्षात् लक्ष्मी से भी बढ़कर यह कन्या उत्पन्न हुई है। आपके घर आठों सिद्धियाँ, नवों निद्धियाँ सदा हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। हमारा अभिप्राय इतना ही था, कि इस कन्या के ग्रह, नक्षत्र और शुभ लक्षणों से हम सब बड़े सन्तुष्ट हुए हैं। हम इसे जैसे भी हो सके वैसे

अपने महाराज की पुत्र वधू बनाना चाहते हैं। इसके ग्रहों को देखकर हमने यह निष्कर्ष निकाला है; कि संसार में प्रलय पर्यन्त इसकी ख्याति होगी और इसके उदर से स्वयं साक्षात् लक्ष्मीपति श्रीमन्नारायण का प्रादुर्भाव होगा।

इतना सुनते ही अधीर होकर रानी ने कहा—"महाराज, आप ही हमारे रक्षक और स्वामी हैं। जैसे भी हो आप हमारा इस चिन्ता से उद्धार करें। बच्ची सयानी हो गयी है। हमें रात्रि दिन इसी की चिन्ता बनी रहती है। आपके आशीर्वाद से उसे अच्छा घर-वर मिल जाय, तो हमारी सभी चिन्तायें दूर हो जायँ।"

बूढ़े ब्राह्मण दृढ़ता के स्वर में बोले—"रानी जी! आप इतनी चिन्तित क्यों होती हैं? महाराज हमारी बात को कभी टालते नहीं। हम आपकी कन्या को, राजरानी, सम्राट् की पत्नी, भू-मण्डल की सर्व प्रधान महिषी बनायेंगे। जब तक इस संसार में सूर्य चन्द्रमा रहेंगे, तब तक तुम्हारी कीर्ति दिग्दिगन्तों में छाई रहेगी। इसे परब्रह्म परमात्मा की जननी होने का अत्यन्त ही दुर्लभ पद प्राप्त होगा।"

ब्राह्मणों की बात सुनकर रानी ने उन्हें, सिर से प्रणाम किया। किवाड़ की ओट में खड़ी कोशल-राज की दुहिता यह सब सुन रही थी। उसके हर्ष का ठिकाना न रहा। मारे प्रसन्नता के उसके सम्पूर्ण शरीर से पसीना निकलने लगा। उसे चक्कर सा आने लगा और वह जल्दी से जाकर अपने पलँग पर पड़ गई।

इधर ब्राह्मण कोशल-राज से बिदा होकर अयोध्या पहुँचे। उन्होंने महाराज अज से जाकर आद्यन्त सभी समाचार

विस्तार के सहित वर्णन किये। उन्होंने सभी बातें बताईं। हम यहाँ गये, वहाँ गये, वहाँ हमारा ऐसा स्वागत सत्कार हुआ अमुक राजा ने आपकी कुशल पूछी, अमुक ने प्रणाम कहा। वहाँ ऐसी कन्या देखी, उसमें सब गुण थे, एक महा अशुभ लक्षण था। इस प्रकार सभी बातें बताकर कहा—"हमें अब तक समस्त पृथ्वी पर सम्पूर्ण सुलक्षणों वाली एक ही कन्या मिली है। वह है आपके अधीनस्थ राजा कोशल की भाग्यवती कन्या। कौशल्या उसका नाम है। गुण, रूप और सौन्दर्य की धाम है। वही सर्वथा राजकुमार दशरथ की पत्नी बनने के अनुरूप है।'

ब्राह्मणों की बात सुनकर महाराज ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"ब्राह्मणो! कोई बात नहीं। राजा हमारे अनुरूप नहीं है, न सही। हमें राज्य से क्या लेना? हमें तो गुणवती, सुलक्षणवती कन्या चाहिये। अच्छी बात है। आप सन्देश भिजवायें। राजा तैयारी करें, इसी मास में विवाह हो जाना चाहिये। इस जीवन का क्या पता? मैं अपने पुत्र को शीघ्र ही पुत्र वधू के साथ देखकर सुखी होना चाहता हूँ। राजा को यदि कुछ धन की आवश्यकता हो, तो यहाँ के राजकोष से मँगा सकता है।"

ब्राह्मणों ने कहा—"महाराज, यह बात हमने पहिले ही उनसे कही थी। यह बात उन्हें कुछ बुरी-सी लगी और बुरी लगने की बात है भी। साधारण गाँवों के लोग, जिस गाँवमें उनके गाँव नाते की लड़की का विवाह होता है, उस गाँव के कूए का जल नहीं पीते, तो इतने बड़े राजा कन्या का धन कैसे ले सकते हैं? उनके यहाँ किसी बात की कमी नहीं। हम

स्वयं देखकर आये हैं। आप चाहें जितनी धूम-धाम से विवाह करने चलें। हाँ, ठीक, इस महीने के शुक्लपक्ष में बड़ी सुन्दर लग्न है। उसी में विवाह संस्कार सम्पन्न हो।"

इतना कहकर ब्राह्मणों ने तुरन्त योग्य दूतों के द्वारा यह समाचार कोशलराज के समीप भेज दिया। इस समाचार को पाकर समस्त अन्तःपुर में आनन्द का सागर उमड़ने लगा। राजकुमारी कौशल्या के भाग्य को सभी स्त्री पुरुष आ-आकर प्रशंसा करने लगे। कन्या भी जब सुनती, लज्जित होती और मन ही मन प्रसन्न होकर अपने सौभाग्य पर सिहाती।

नियत तिथि से तीन दिन पूर्व अयोध्यापुरी से बरात सज-धज कर कोशलराज की राजधानी की ओर चली। महाराज अज चक्रवर्ती सम्राट् थे। सभी देशों के राजा और राजपुत्र कुमार दशरथ के विवाह में सम्मिलित होने के निमित्त अयोध्या-पुरी में आये थे। सैकड़ों लाखों राजा और राजकुमार अपने सुवर्ण मंडित मुकुटों से वहाँ ऐसे ही शोभायमान होते थे जैसे इन्द्रपुरी में दिव्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित देवगण शोभित होते हैं। अनेक राजकुमार चिरञ्जीव कुमार दशरथ के समवयस्क साथी और परम मित्र थे। शौनकजी! युवकों को वृद्धों में बैठना बहुत रुचिकर नहीं होता। वृद्धों के सम्मुख बड़े शिष्टाचार से बैठना पड़ता है। कछुए की तरह सभी अङ्गों को सिकोड़ कर शान्त होकर सर्वदा अपने को सम्हाले रहना पड़ता है। किन्तु जहाँ एक अवस्था के जुट जाते हैं, वहाँ खुलकर बातें होती हैं। बनावटी शील संकोच नहीं रहता। निर्भय होकर हँसते खेलते हैं। इसीलिये बूढ़े बूढ़ों के पास बैठते हैं, लड़के लड़कों के साथ सुखी होते हैं।

महाराज ने कुमार से पूछा—"बेटा बोलो ! कौन-सी सवारी तुम्हें प्रिय है ? रथ में चलोगे, पालकी में चलोगे, या हाथी पर चलोगे अथवा नौका में चलोगे ?

राजकुमार ने लजाते हुए कहा—"पिताजी ! मुझे तो नौका की सवारी अत्यन्त प्रिय है। वह भी यदि सीधे प्रवाह की ओर चले तो। अन्य सभी सवारियों में शरीर हिलता है, थकान हो जाती है, किन्तु नौका में न शरीर हिलता है न थकते हैं और न धूल ही आती है। बड़े आनन्द से प्रकृति का दृश्य देखते हुए चलते हैं। जल को देखकर वैसे ही प्राणी मात्र को प्रसन्नता होती है, क्योंकि जल ही जीवों का जीवन है। इसीलिये स्नान करने जल में घुसते ही सभी हँस पड़ते हैं। मुझे भी जल में स्नान करना, तैरना बहुत प्रिय है। और नौका की सवारी तो मुझे बड़ी ही भली मालूम होती है। यदि आप आज्ञा दें, तो मैं तो नौका से ही चलूँ।"

कोशल नगरी सरयू के किनारे ही थी। सरयूजी उस समय बढ़ी हुई थीं, फिर भी महाराज ने अपने पुत्र की प्रसन्नता के लिये नौका से जाने की आज्ञा दे दी। एक बहुत सुन्दर बड़ी सी सुदृढ़ नौका [illegible] अनेक प्रकार के मणि मुक्ताओं [illegible] समान बना दी गई [illegible] स्नेही राजकुमारों के साथ बैठे। महाराज के मन्त्री का लड़का सुमन्त नाम का सूत जो उस समय कुमार दशरथ की ही अवस्था का था, उनके साथ बैठा। बहुत से सैनिक अङ्गरक्षकों से घिरे अपने सुहृदों के साथ बैठे हुए राजकुमार उसी प्रकार शोभित हो रहे थे, जैसे इन्द्र अपने विमान में देवताओं के साथ शोभित होते हैं। हँसते-खेलते, गाते बजाते

भाँति-भाँति के मनोरञ्जनों से मन को बहलाते हुए कुमार अपनी सजी हुई नौका में अपनी नववधू की चिन्ता करते हुए, सुखपूर्वक विवाह करने ससुराल जा रहे थे।

जिस समय राजकुमार दशरथ विवाह करने जा रहे थे उसी समय संयोग की बात—ब्रह्माजी किसी काम से लङ्का में रावण के समीप आये। सभी उस दुष्ट से डरते थे। जिन ब्रह्माजी से तपस्या करके उसने दुर्लभ वर प्राप्त किये थे, उनकी भी यह अपने बल पराक्रम के मद में भरकर अवहेलना करने लगा। उन्हें भी वह अपने सामने कुछ नहीं समझता था। ब्रह्माजी भी सोचते थे—अब इसका समय है। इसे मनमानी कर लेने दो। एक दिन समय आवेगा कि इसका जड़मूल से नाश हो जायगा। यही सोच कर वे चुप हो जाते और उसकी हाँ-में-हाँ मिलाते रहते।

ब्रह्माजी को आया हुआ देखकर रावण ने ब्र-मन से उनका सत्कार किया और फिर अभिमान के स्वर में पूछने लगा—"पितामह ! आप अपने लोक में बैठे-बैठे क्या काम किया करते हैं ?"

भगवान् ब्रह्माजी ने सरलता से कहा—"भैया, मैं जीवों के भाग्यों को बनाता रहता हूँ। उनके संयोग, वियोग और उसके कारणों को लिखता रहता हूँ।"

अवहेलना के स्वर में रावण ने पूछा—"अच्छा बताइये, मेरी कैसे मृत्यु होगी और किसके द्वारा होगी ?"

ब्रह्माजी घबड़ाये, कि यह तो बड़ा दुष्ट है। इसे अभी से इसकी मृत्यु का समाचार बताना ठीक नहीं, अतः बात को

बदलते हुए बोले—"अरे, तुम इतने शूरवीर, पराक्रमी होकर भी मृत्यु की चिन्ता करते हो, जैसे होनी होगी हो जायगी। उसके लिये अभी से क्या सोचना? हाँ, तो बताओ! तुम्हारे यहाँ सब कुशल तो है?"

किन्तु रावण अब कब मानने वाला था। बलवानों को जो धुन सवार हो जाती है, उसे पूरा करके ही छोड़ते हैं। रावण अपनी धुन क्यों छोड़ने चला? उसने कहा—"महाराज, कुशल-क्षेम की बात तो पीछे होगी। अब तो आपको मेरी मृत्यु की बात बतानी पड़ेगी। मुझे आज आपके झूठ सच की परीक्षा करनी है। अब आप बहानेबाजी छोड़िये। सब सच-सच बता दीजिये।"

ब्रह्माजी समझ गये, अब यह मूर्ख मानेगा नहीं, अतः बोले—"अरे, भैया! तुम नहीं मानते हो, तो बताता हूँ। रघुवंश में एक परम पराक्रमी राजा अज हैं। उनके पुत्र दशरथ का विवाह कोशल देश के राजा की पुत्री कौशल्या के साथ होगा। उसी के गर्भ से रामचन्द्र नामक एक राजा होंगे। वे ही तुम्हें मारेंगे।"

यह सुनकर रावण बड़े जोरों से हँसा और हँसते-हँसते बोला—"पितामह! लोग जो कहते हैं, कि बूढ़े आदमियों की बुद्धि सठिया जाती है, उसे आज सत्य ही पा रहा हूँ। भला, बताइये मनुष्य तो हमारे आहार हैं। कोई मनुष्य मुझे कैसे मार सकता है?"

ब्रह्माजी सरलता से बोले—"भैया, मैंने तो ऐसा ही लिखा।

गर्व के साथ रावण बोला—"हो कैसे जाय, हम तो सदा से सुनते आये हैं कि—

"जो विधिना ने लिखि दई, छटी रात के अङ्क।
राई घटे न तिल बढ़े, रहु रे जीव निशङ्क॥

ब्रह्मा की लिखी लकीर कभी व्यर्थ होती ही नहीं। अच्छा, यह बताइये दशरथ का कौशल्या के साथ विवाह अभी हुआ या नहीं ?"

ब्रह्माजी घबराये कि अच्छे इस दुष्ट के चक्कर में फँसे। किन्तु करते क्या, अब छुटकारे का कोई उपाय ही नहीं था, अतः बोले—"नहीं भाई, अभी तो विवाह नहीं हुआ है।"

रावण ने पूछा—"कब होगा ?"

ब्रह्माजी ने कहा—"आज से तीसरे दिन हो जायगा।"

रावण हँसा और बोला—"अच्छी बात है महाराज, अब तीन दिन तक तो आप कहीं जा ही नहीं सकते। अभी आपके झूठ सच की परीक्षा हुई जाती है। यह सामने घर है, इसी में आप जो लिखना पढ़ना चाहें, लिखते-पढ़ते रहिये। मैं अभी जाकर दोनों का अन्त किये देता हूँ। जब वे दोनों रहेंगे ही नहीं, तो रामचन्द्र कैसे पैदा होंगे तो फिर आपका विधान व्यर्थ हो जायगा। यदि आपकी बात झूठी सिद्ध हो जायगी, तो फिर आपको अवकाश दे दिया जायगा। किसी दूसरे को ब्रह्मपद पर मैं नियुक्त कर दूँगा।"

ब्रह्माजी फँस चुके थे, बोले—"अच्छा, भैया! तू अपने मन की भी करके देख ले। मेरी बात तो कभी झूठी हो ही

नहीं सकती। मेरा बनाया विधान किसी भी प्रकार व्यर्थ नहीं हो सकता।"

रावण ने अवहेलना के स्वर में कहा—"अच्छी बात है, 'नाई! नाई! बाल कितने हैं?" उसने कहा—"सरकार सामने ही आये जाते हैं, गिन लेना कितने हैं।" तीन दिन में, आपकी बात की सत्यता असत्यता मालूम ही पड़ जायगी।"

इतना कहकर ब्रह्माजी को वहीं छोड़कर रावण आकाश मार्ग से उड़ा और अयोध्या में पहुँचा। वहाँ जब उसे पता चला कि आज ही नौका द्वारा दशरथजी विवाह के लिये गये हैं, तो वह उसी वेग से सरयू किनारे-किनारे चला। सरयू में जाती हुई सुंदर नौका में, वर के वेष में बैठे हुए कुमार दशरथजी को दुष्ट रावण ने दूर से ही देखा। उसने सोचा—इस सम्पूर्ण नौका को ही तोड़ फोड़कर जल में डुवा दूँ, इसी में सब मर जायँगे। यह सोचकर वह ऊपर से चील की भाँति झपटा। उसने एक झपट्टे में नौका के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। सभी राजकुमार, नौकर चाकर डूबकर मर गये। उसने सब पर ऐसा प्रहार किया कि एक भी नहीं बचा, नौका के खण्ड-खण्ड हो गये। संयोग की बात, सुवर्ण का दृढ़ छत्र टूटकर सुमन्त और दशरथ के ऊपर पड़ा, इससे वे दोनों गहरे जल के भीतर चले गये। दोनों ने एक दूसरे को कसकर पकड़ लिया। रावण थोड़ी देर खड़ा रहा। जब उसने देखा—नौका खण्ड-खण्ड हो गई, सभी राजकुमार नौकर चाकर डूबकर मर गये। बहुत से मृतक शरीर जलपर तैरने लगे तो उसने समझ लिया, दशरथ की भी साथ में मृत्यु हो गई। यह सोचकर और प्रसन्न होता हुआ वह कोशल नगरी की ओर चला।

रावण सर्वथा पापी ही होता, तब तो वह अपने पाप से ही मारा जाता, उसके लिये भगवान् को अवतार न लेना पड़ता। वह तो वेदज्ञ, नीति शास्त्र विशारद और बड़ा भारी पण्डित भी था। निर्बलों पर वह कभी प्रहार नहीं करता था। जो अपने को बली, श्रेष्ठ और सर्वमान्य समझते थे उन्हीं से उसकी चिढ़ थी। वह अपने सामने किसी को अपना प्रतिस्पर्धी शूर वीर, कीर्तिमान् और सम्माननीय देखना नहीं चाहता था। वह अत्यधिक महत्वाकांक्षी था, न स्त्रियों पर वह कभी अस्त्र ही छोड़ता। उसने निश्चय कर लिया था, कि कौशल्या को मैं मारूँगा नहीं। उसे तीन दिन तक अपने अधीन गुप्त स्थान में समुद्र के भीतर रखूँगा। जब ब्रह्माजी की बताई अवधि समाप्त हो जायगी, तब या तो उसे छोड़ दूँगा और यदि वह प्रसन्नता से मेरे यहाँ रहने को सहमत हो गई, तो अपने यहाँ रख लूँगा। इसीलिये वह अपने साथ एक ऐसी सुन्दर पेटी ले गया था, कि जिसे समुद्र में डाल दो तो समुद्र के भीतर भी उसमें हवा जाती रहे। वह पेटी इतनी बड़ी थी कि उसमें आदमी स्वेच्छापूर्वक सो सकता था, टहल सकता था। उसमें खाने पीने को बहुत से फल, मेवा, मिठाइयाँ आदि रखी हुई थीं और पीने को सुन्दर मीठा पानी भी। कोशलपुर में जाकर रावण ने सबसे पहिले अपनी माया से बड़ी भारी आँधी चलाई। आँधी इतने वेग से चली कि किसी को कुछ भी दिखाई नहीं देता था। अन्तःपुर में धूल ही धूल भर गयी। उसी समय रावण उस भवन में गया, जहाँ दुलहिन के वेप में हल्दी लगाये कौशल्या बैठी थी। रावण ने उन्हें पकड़ कर उस पेटी में बिठा दिया और उस पेटी को लेकर आकाश में उड़ गया और समुद्र के समीप गङ्गासागर के आस-पास

पहुँचा। वहाँ एक बड़ा भारी तिमिङ्गिल रहता था। तिमि उस मत्स्य को कहते हैं जो कई कोस लम्बा होता है, जो बड़े बड़े जहाजों को अपनी पूँछ से ही पानी में डुबा देता है। इतने बड़े भारी मत्स्य को भी जो निगल जाता है, उसे तिमिङ्गिल कहते हैं। यह एक प्रकार का छोटा मोटा द्वीप सा ही होता है। जब यह समुद्र में मर जाता है, तो उसी के ऊपर द्वीप बस जाता है। ऐसा ही एक तिमिङ्गिल वहाँ था। उससे रावण की मित्रता थी। रावण ने उससे कहा—"देखो, मत्स्य राज! यह मेरी एक धरोहर है। इस पेटी को तुम बड़ी सावधानी से अपने मुँह में जल के भीतर रखना। इसकी कोई वस्तु नष्ट न होने पावे। मैं जब चाहूँगा, तब तुमसे ले जाऊँगा। यदि तुमने इसमें कुछ भी गड़बड़ी की तो मैं तुम्हें उसी क्षण मार डालूँगा।"

वह महामत्स्य रावण का प्रभाव जानता था। उसने विनीत भाव से कहा—"हे राक्षसेन्द्र! आप कैसी बात कह रहे हैं? आप मेरे ऊपर विश्वास करें। मैं आपकी इस धरोहर को सदा अपने मुख में ही लिये रहूँगा। मुझे खोलने देखने से क्या काम? जब आप कहेंगे, तभी मैं ज्यों का त्यों इसे लौटा दूँगा।"

महामत्स्य की ऐसी बात सुनकर रावण बहुत प्रसन्न हुआ और उस पेटी को उसे सौंपकर, अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ अपनी लंकापुरी में चला गया। उसे बड़ी भारी प्रसन्नता थी, कि मैंने आज अपने पुरुषार्थ से ब्रह्माजी का विधान मेंट दिया, भावी को व्यर्थ बना दिया। भाग्य विधाता ब्रह्माजी को भी भूल भुलैया में डाल दिया।

इधर जल में डूबे हुए, परस्पर में एक दूसरे को पकड़े हुए—"कुमार दशरथ और मन्त्रीपुत्र सुमन्त उछले। जिस स्थान पर वे उछले थे, उसी पर नौका के सुन्दर टूटे हुए दो दृढ़ तैरते हुए पटरे दिखाई दिये। वे जल पर नौका की तरह तैर रहे थे। दोनों उनके ऊपर बैठ गये। वे बोझ से जल में डूबे नहीं, नौका की भाँति तैरने लगे। सूर्यास्त हो चुका था। अतः दोनों सरयू के प्रबल प्रवाह में बहने लगे। सुमन्त ने कहा—"कुमार चिल्लाते चलो, कोई केवट मल्लाह होगा, तो हमें दया करके बचा लेगा।"

इस पर राजकुमार दशरथजी ने कहा—"सुमन्त! अब अपने को भाग्य पर छोड़ दो। राजकुमारी कौशिल्या के गुणों की प्रशंसा सुनते-सुनते मेरा मन उसी में आसक्त हो गया है। अब जब वही हमें नहीं मिल सकती, उसका भी इसी प्रकार कुछ अनिष्ट हुआ हो तो हमारे इस जीवन को धिक्कार है। अब तो चुपचाप प्रवाह में बहते चलो। प्रारब्ध अब जहाँ ले जाय। देखो, भगवान को क्या करना है?" राजकुमार की बात सुनकर सुमन्त चुप हो गया। वे जुड़े हुए तीन-चार तख्ते बेग से साथ सरयू के तीक्ष्ण प्रवाह में सागरकी ओर बहे चले जा रहे थे। आगे चलकर अंग देश में महानदी सरयू भगवती भागीरथी से मिली हैं। अब दोनों सरयू से बहकर गङ्गाजी में आ गये, गङ्गाजी उस टूटी नौका को अपनी चपेटों से नचाती हुई, सागर की ओर द्रुतगति से ले जारही थीं। दूसरे दिन रात्रि में वे लोग गंगासागर के समीप एक टापू में पहुँच गये। उनका वह भग्न नौकाखंड एक बड़े भारी टीले से टकराया। सुमन्त ने कहा—"कुमार! अब हम समुद्र में आ गये। देखिये, यह पृथ्वी आगई, अब अपने को समुद्र में जाने से बचाइये।

आइये, इस सुन्दर हरी-भरी पृथ्वी में उतर पड़ें। कुमार की भी समझ में बात आ गई। वे सब उस भूमि में उतर पड़े। वहाँ बहुत से जङ्गली फलों के वृक्ष थे, भूमि सुन्दर थी, उसमें हरी-हरी घास थी। बहुत-सा सूखा ईंधन भी था। दोनों ने वह रात्रि वहीं काटी। प्रातःकाल उन्होंने गङ्गाजी से सङ्गम करते हुए बड़ी-बड़ी तरङ्गोंवाले समुद्र को हँसते हुए नायक के समान देखा। वहाँ की प्रकृत छटा को देखकर दोनों सुखी हुए।

इधर उस महामत्स्य तिमिङ्गिल से लड़ने एक दूसरा तिमिङ्गिल आगया। इस रावण के मित्र तिमिङ्गिल ने सोचा—लड़ाई झगड़े में यदि यह पेटी टूट गई तो रावण मुझे जीवित न छोड़ेगा, तुरन्त मार डालेगा। इसलिये इसे इस टापू में रख दूँ। यही सोचकर किनारे आकर उसने वह पेटी रख दी और अपने शत्रु दूसरे तिमिङ्गिल से युद्ध करने चला गया।

कुमार दशरथ और मन्त्री-पुत्र सुमन्त घूमते-घूमते उसी स्थान पर आ गये। उस इतनी बड़ी भारी पेटी को एकान्त में रखी देखकर उन्हें बड़ा भारी कुतूहल हुआ। यह जानने के लिये कि इसमें क्या रखा है, वे उसे खोलने का प्रयत्न करने लगे। इतने में ही पेटी अपने आप ही फट से खुल गई। वे दोनों क्या देखते हैं, कि उसमें पीले वस्त्र पहिने अग्निशिखा के समान, सुवर्ण की कान्ति को भी लज्जित करने वाली, अत्यन्त सुन्दरी मनोहर गुड़िया की तरह सजी हुई एक नववधू बैठी है। उसके सौन्दर्य को देखकर कुमार तो हक्के-बक्के से रह गये। पृथ्वी पर इतना अनिन्द्य सौन्दर्य आज तक उन्होंने नहीं देखा था। पूछने से पता चला, ये ही कौशलराज की कन्या राजकुमारी कौशल्या हैं। कुमार ने उसी समय अपना मन प्राण तथा

सर्वस्व उस अनुपम सुन्दरी के ऊपर अर्पित कर दिया। उन्होंने सुमन्त से कहा—"आओ, भैया! हम भी इसी पेटी में बैठ जायँ जो इनकी गति वही हमारी गति।"

सुमन्त ने कहा—"महाराज! मैं तो बैठ नहीं सकता। किसी भी स्त्री के साथ एकान्त में ऐसे सटकर बैठना शास्त्र विरुद्ध है।"

कुमार ने बड़ी दीनता से कहा—"भैया! देखो, आपत्ति में मर्यादा नहीं होती। मैं इन्हें छोड़कर अब कहीं जा नहीं सकता। जो इनकी गति सो मेरी गति। तुम मेरी बात मानलो और अब देर न करो।"

सुमन्त ने कहा—"महाराज! एक उपाय तो है। आपके विवाह की यही लग्न है। आप दोनों यहाँ धर्मपूर्वक विवाह करलें, तब तो ये धर्म से मेरी माता हो गईं। माता-पिता के साथ बैठना धर्म विरुद्ध नहीं है।"

कुमार ने कहा—"अच्छा भैया, यही सही। दो लकड़ी घिस कर अग्नि जलाओ। अग्नि को साक्षी करके हम दोनों धर्म-पूर्वक पति-पत्नी हो जायँ।"

सुमंत ने ऐसा ही किया, अग्नि जलाई और कुमार ने त्रैलोक्य सुन्दरी राजकुमारी कौशल्या का शास्त्र विधि से पाणि-ग्रहण किया और फिर वे तीनों जाकर उस पेटी में बैठ गये। पेटी बड़ी थी, तीनों सुखपूर्वक उसमें आगये। वह भीतर से भी बन्द होती थी और बाहर से भी। तीनों जब बैठ गये, तो वह पेटी बन्द हो गई।

इतने में ही वह तिमिङ्गिल अपने शत्रु को मारकर तीर पर आया। पेटी वहाँ रखी थी, उसने उठाकर उसे मुँह में रख

लिया। इतने बड़े जन्तु के लिये जैसे एक वैसे ही तीन। उसे कोई बोझ नहीं प्रतीत हुआ। उसके मुँह में वह सन्दूक सरसों के समान प्रतीत होता था।

जब तीन दिन बीत गये तब रावण ने हँसते हुए ब्रह्माजी से पूछा—"कहिये महाराज, विधाताजी! कौशल्या और दशरथ का विवाह हो गया क्या?"

ब्रह्माजी ने बड़ी सरलता से कहा—"हॉं, भैया, हो गया। उसी लग्न में विधिपूर्वक दोनों पति पत्नी हो गये।"

यह सुनकर रावण हँसा और बोला—"यदि नहीं हुआ हो तो?"

ब्रह्माजी बोले—"तो क्या? न हुआ हो तो हम ब्रह्म पद छोड़ देंगे।"

रावण को आश्चर्य भी हुआ और हँसी भी आई। आश्चय इसलिये कि ब्रह्माजी बड़ी दृढ़ता से कह रहे हैं, कुछ दाल में काला तो नहीं है? हँसी इसलिये आई कि मैं दशरथ को मार आया हूँ, फिर भी ये कह रहे हैं—नियत समय पर विवाह हो गया। यह सोचकर वह बोला—"अच्छी बात है, महाराज! अभी विराजे रहिये। मैं आपको प्रत्यक्ष दिखाता हूँ।"

इतना कहकर वह आकाश में उड़ा और तिमिङ्गिल के समीप पहुँचा। वहाँ जाकर उसने पेटी माँगी। उसने बड़ी सावधानी के साथ पेटी उसे सौंप दी। उसे लेकर रावण लङ्का में आया और हँसते हुए ब्रह्माजी से बोला—"पितामह! आप तो कहते थे, कौशल्या का दशरथ के साथ विवाह हो गया, कौशल्या तो तीन दिन से इनमें बन्द हुई बैठी है।"

बूढ़े ब्रह्माजी ने वृद्धावस्था की गंभीरता के स्वर में कहा—"बेटा, इसे खोलकर देखो। इसमें क्या है ?"

रावण खोलकर देखता है, तो उसमें तो गुड्डा गुड़ियों की तरह बहू और दुल्हा बैठे हैं। पास ही सुमन्त बैठा है। उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। पितामह से पूछने लगा—"महाराज, यह कौन हैं ?"

तब ब्रह्माजी ने कहा—"अरे, उतावले! यही महाराज अज के पुत्र महाभाग कुमार दशरथ हैं। इनको ही मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के पिता बनने का देव दुर्लभ पद प्राप्त होगा।"

इस पर रावण बड़ा कुपित हुआ और अपनी तलवार निकाल कर दशरथजी का सिर काटने को उद्यत हो गया। उसने कहा—"मैं अभी इसका सिर काटे देता हूँ। जब वृक्ष की जड़ ही न रहेगी तो फल कैसे लगेंगे ? बाँस ही न रहेगा, तो बाँसुरी कैसे बनेगी ?"

इस पर उसे रोकते हुए ब्रह्माजी ने कहा—"बेटा! इतने उतावले मत बनो। प्रारब्ध को कोई मेंट नहीं सकता। विधि का विधान व्यर्थ नहीं बन सकता। तुमने विवाह रोकने के कितने प्रयत्न किये, सभी व्यर्थ हुए। अब यदि तुम इन्हें मारोगे भी तो ये मर नहीं सकते। यदि मरें भी तो अभी इनके रक्त से रामचन्द्र उत्पन्न होकर तुम्हें यहीं मार डालेंगे। इसलिये तुम अकाल में कालकवलित क्यों होते हो ? चुपचाप इन्हें उठाकर अभी अयोध्या के समीप डाल आओ, नहीं तुम्हारी कुशल नहीं। अभी क्षण भर में तुम्हारा सभी ऐश्वर्य विलीन हो जायगा।"

इस बात से रावण डर गया। पापी का हृदय ही कितना होता है ? उसने सोचा—कह तो ठीक रहे हैं, मेरे सभी

प्रयत्न विफल रहे। अब मैं इसी समय जान बूझकर अपनी मृत्यु क्यों बुलाऊँ। यही सब सोच समझकर ब्रह्म उसी समय उस पेटी को लेकर उड़ा और अयोध्या के समीप रख कर लंका में आ गया। ब्रह्माजी अपने लोक में चले गये। महाराज अज जो बड़े व्याकुल हो रहे थे, वे पुत्र-वधू सहित अपने पुत्र को पाकर परम प्रसन्न हुए और अनेक प्रकार के दान धर्म करने लगे।

"सो, शौनकजी! विधि का विधान बड़ा प्रबल है, भावी को कोई मेट नहीं सकता। महाराज परीक्षित् धर्मात्मा थे, उनकी रानी को सब मालूम था, वह इसीलिए बार-बार मना भी करती थी। राजा कभी भूल में भी ब्राह्मणों पर क्रोध नहीं करते थे, मन से भी कभी किसी तपस्वी का तिरस्कार नहीं करते थे, किन्तु उस दिन प्रारब्ध वश सहसा अभूतपूर्व घटना घट गई। राजा को क्रोध आ गया, उन्हें समाधि में स्थित शमीक मुनि के प्रति ईर्ष्या और मत्सर के भाव उत्पन्न हुए। वे अपने अपमान का बदला लेने के लिए ऋषि की समाधि की अवहेलना करते हुए उनकी परीक्षा लेने लगे। पास में ही पड़े एक मरे साँप को ऋषि के गले में डालकर वे इस बात की परीक्षा करना चाहते थे, कि देखें, सचमुच यह मुनि समाधि में स्थित है या मुझे देखकर ढोंग बनाकर अकड़ में बैठ गया है।"

यह सुनकर शौनकजी को बड़ा दुःख हुआ और वे पूछने लगे—"सूतजी! फिर क्या हुआ। यह तो बड़ा अन्याय राजा ने किया। राम-राम धर्मात्मा राजा को ऐसी बुद्धि भ्रष्ट क्यों हो गई।"

सूतजी बोले—"महाभाग ! मैं सब सुनाऊँगा। थोड़ी देर मैं भगवान् वासुदेव का ध्यान कर लूँ।" यह कह सूतजी क्षणभर के लिए चुप हो गये।

छप्पय

रावण जैसो शूर वीर बल को गरबीलो।
पुरुषारथ लखि व्यर्थ भयो चिन्तित अति ढीलो॥
दशरथ द्वों वर वधू कुमारि कौशल्या वरिहैं।
तिनतें होवें राम वही तोकूँ रण मरिहैं॥
ब्रह्मदेव तें सुनी अस, कुमर डुबाये कुमारि ले।
लङ्का आयो तउ भयो, ब्याह देखि खल कर मले॥

मुनि के गले में मरा सर्प डालकर लौटना

(७८)

स तु ब्रह्मऋषेरंसे गतासुमुरगं रुषा।
विनिर्गच्छन् धनुष्कोट्या निधाय पुरमागतम् ॥
एष किं निभृताशेषकरणो मीलितेक्षणः।
मृषासमाधिराहोस्वित् किं नु स्यात् क्षत्रबन्धुभिः ॥१

(श्रीभा० १स्क० १८ अ० ३१, ३० श्लो०)

छप्पय

होनहार नहिं होय अन्यथा काहू विधि तें।
मृत्यु टरे नहिं जोग जप, तप सिद्धि सिद्धि तें ॥
नृप सोचें—'मुनि नेत्र मूँदि का ध्यान लगावें।
अथवा देखत मोइ अकड़ि कें ढोंग बनावें ॥
लैन परीक्षा मुनि गरे, मृत अहि डारयो कुपित अति।
आश्रम तें निकसे तुरत, पहुँचे निजपुर महँ नृपति ॥

जिनसे जिस बात की स्वप्न में भी आशा नहीं की जा सकती, यदि दैवयोग से उनके द्वारा वैसी घटना घटित हो जाती है, तो दुष्ट लोग अपनी दुष्टता वश उनकी भर पेट निन्दा

---

१ महाराज परीक्षित् ने सोचा "यह मुनि क्या वास्तव में अपनी समस्त इन्द्रियों से उपरत होकर अपने नेत्र बन्द किये हुए बैठा है अथवा

करते हैं, किन्तु सज्जन पुरुष समझ लेते हैं, विधान ऐसा ही होने वाला था। प्रारब्ध के वशीभूत ही होकर उनके द्वारा ऐसा विपरीत आचरण संभव हो सका। होनहार ऐसी थी। यही सब सोचकर और भली प्रकार स्वस्थ होकर अपने आप ही सूतजी कहने लगे—"मुनियो! जैसा समय होता है, वैसे ही आशा दिखाई देने लगते हैं। वसन्त आते ही स्वतः वृक्षों के पुराने पत्ते झड़ जाते हैं और उनके स्थान में नूतन छोटे-छोटे कोंपल निकलने लगते हैं। वर्षा समाप्त होते ही अपने आप वायु ठंडी हो जाती है, गर्मी समाप्त होकर सर्दी पड़ने लगती है। युवावस्था में पदार्पण करते ही लड़के लड़कियों के विशिष्ट अंग अपने आप ही बढ़कर यौवनावस्था की सूचना देने लगते हैं। आपका समय बँधा है। सब संयोग निश्चित हैं। जैसी भवितव्यता होती है वैसे ही बानक बन जाते हैं। जहाँ जीव की मृत्यु होती है, वहाँ वह इच्छा न होने पर भी चला जाता है। इस सम्बन्ध में मैं आपको एक अत्यन्त ही महत्व का इतिहास सुनाता हूँ। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

"एक दिन की बात है, कि भगवान् विष्णु अपने गरुड़ पर चढ़कर लक्ष्मीजी को साथ लिए हुए घूमते फिरते भगवान् भूतनाथ की पुरी वाराणसी में पहुँच गये। भूतपति भगवान्

यह सोचकर कि "इन नीच क्षत्रियों से हमें क्या प्रयोजन" इसने अपनी आँखें मींच ली हैं। इसकी परीक्षा करने के निमित्त ही राजा ने क्रोध में भरकर आश्रम से लौटते हुए एक मरा सर्प अपने धनुष की नोक से उठाकर, मुनि के गले में डाल दिया और अपनी राजधानी को लौट आये।

भोलानाथ के दर्शन करने के निमित्त वे गरुड़जी को द्वार पर ही छोड़कर चले गये। इतने में ही अपने भैंसे पर चढ़े हुए दंडपाणि यमराजजी भी आ पहुँचे। द्वार पर गरुड़जी को देखकर यमराज जी उन्हें प्रणाम किया और हँसते हुए बोले—"गरुड़जी ! आप यहाँ कैसे खड़े हैं ?"

गरुड़जी ने कहा—"भगवान् भीतर दर्शन करने पधारे हैं, मैं यहाँ खड़ा-खड़ा उन्हीं की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

यमराज ने कहा—"अच्छा, भगवान् पधारे हैं ? मैं भी दर्शन कर आऊँ।' यह कहकर वे भी अपने लम्बे सींगों वाले नीलाञ्जन पर्वत के समान भैंसे को द्वार पर छोड़कर भीतर चले गये। जब यमराज मन्दिर के दरवाजे से भीतर घुस रहे थे, तो उन्हें वहाँ एक बड़ा ही सुन्दर स्वस्थ कबूतर प्रसन्नता के साथ चहकता हुआ दिखाई दिया। अपने गले को फुलाकर अपनी स्त्री के साथ वह सुख के साथ क्रीड़ा कर रहा था। उसे देखकर यमराज हँसे और तीखी दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए भीतर चले गये। यमराज की जिसे देखकर भौंहें तन जायँ, जिसे देखकर वे सूखी हँसी हँस दें, समझ लो उसका अन्त समय आ गया। यह सोचकर कबूतर का सभी आनन्द विलीन हो गया। वह मारे डर के थर-थर काँपने लगा। उसका मुख म्लान हो गया और इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं। टहलते हुए गरुड़जी भी दरवाजे के समीप आ पहुँचे। गरुड़जी तो सब पक्षियों के राजा ही ठहरे। कबूतर को इस प्रकार दुखी देखकर दयावश वे उससे बोले—"कपोतराज ! तुम इतने दुखी क्यों हो रहे हो। अपनी चिन्ता का कारण मुझे बताओ

तुम मेरी प्रजा हो, मैं भगवान् चक्रपाणि का वाहन हूँ। मैं सब कुछ करने में समर्थ हूँ, तुम्हारे दुःख को मैं सभी उपायों से मेटने में समर्थ हूँ। बोलो, तुम्हें क्या चिन्ता है? मैं तुम्हारा कौन सा प्रिय कार्य करूँ ?"

कबूतर ने काँपते हुए कहा—"हे पक्षिराज! हे दीनबन्धो! अभी यमराज मुझे देखकर भौंहें तानते हुए मेरी ओर तीक्ष्ण दृष्टि से मुस्कराते हुए गये हैं। इससे मैं समझता हूँ मेरा अन्त समय निकट आ गया है।"

गरुड़जी ने यह सुनकर बड़ी दृढ़ता के साथ कहा—"अरे, तुम इस बात से इतने चिन्तित क्यों हो रहे हो? आओ मेरी पीठ पर बैठो, मैं अभी तुम्हें लोकालोक पर्वत पर पहुँचा दूँ, जहाँ तुम्हें किसी जीव से भय नहीं।"

'मरता क्या न करता ?' कबूतर बिना सोचे समझे गरुड़जी की पीठ पर बैठ गया। गरुड़जी वायु से भी अधिक वेग से उड़े और एक मुहूर्त भर में वे इस पृथ्वी मंडल के पार लोकालोक पर्वत पर पहुँच गये। उस कबूतर को वहाँ बैठाकर तुरन्त लौट आये कि कहीं भगवान् निकल न आवें। गरुड़जी इतने वेग से उड़े थे, कि उनके सम्पूर्ण शरीर से पसीना निकल रहा था। बड़ी शीघ्रता से वे लम्बी-लम्बी साँस ले रहे थे। इतने में ही यमराज विश्वनाथजी को प्रणाम करके बाहर निकल आये। उन्होंने जब गरुड़जी की ऐसी दशा देखी तो पूछा—"महाभाग गरुड़जी! आप इतने हाँफ क्यों रहे हैं? अभी-अभी तो आप बड़े आनन्द से खड़े थे। इतनी ही देर में आपका सम्पूर्ण शरीर पसीने से क्यों भीग गया? आप थके हुए भी प्रतीत होते हैं? इसका क्या कारण है ?"

अत्यन्त उपेक्षा के साथ, गरुड़जी बोले—"क्या बतावें यमराज, तुम सबको तङ्ग करते हो। तुम्हारी सूरत से सभी भयभीत हो जाते हैं। तुम्हारे दर्शन सभी को भयानक हैं। तुम्हारी हँसी भी विष बुझे खड्ग के समान है। तुम्हारी हँसी के कारण ही हमें इतना कष्ट उठाना पड़ा।"

सब समझते हुए भी बनावटी व्यग्रता दिखाते हुए यमराज बोले—"बात तो बताओ! तुम्हारे सामने मैं क्या कर सकता हूँ? तुम तो मेरे स्वामी भगवान् विष्णु को भी ले जाने वाले हो। उनको भी युद्ध में सन्तुष्ट करनेवाले हो। तुम्हारी जिह्वा पर तो सदा भगवान् का नाम रहता है। इसलिये तुमको तो मुझसे भय न होना चाहिये।"

गरुड़जी हँसते हुए बोले—"अजी, मुझे भला आपसे क्या भय होना था? मैं तो अपने स्वामी के नाम के प्रभाव से आपको भी भयभीत कर सकता हूँ, किन्तु आप जो जाते समय उस कबूतर को देखकर हँसे थे, वह आपसे बहुत अधिक डर रहा था। मैं उसे निर्भय बनाने को अभी-अभी लोकालोक पर्वत पर छोड़ आया हूँ, जहाँ कोई जीव जन्तु नहीं। अब आप मुझे यह बताइये कि आप उसे देखकर हँसे क्यों?"

इतना सुनते ही यमराज अट्टहास करते हुए और भी बड़े जोर के साथ हँसते हुए कहने लगे—"गरुड़जी! मैं हँसा था, विधि विधान पर। आप जानते ही हैं, हम स्वयं किसी को मारने में समर्थ नहीं। महादेव जिसके लिये जैसा विधान बना देते हैं, जिस स्थान पर जिसके द्वारा जिस जीव की मृत्यु निश्चय कर देते हैं, मेरा मन्त्री मृत्यु उसी काल में वहाँ से

प्राणी को उठा लाता है। इस कबूतर की मृत्यु दो मुहूर्त बाद लोकालोक पर्वत पर रहने वाली एक बिल्ली के द्वारा लिखी थी। मैं यह सोचकर हँसा था, कि दो मुहूर्त में इसकी मृत्यु लोकालोक पर्वत पर बिल्ली के द्वारा होनी है। यदि यह अपने पंखे से उड़े, तो हजारों वर्षों में भी नहीं पहुँच सकता। यदि वह बिल्ली ही स्वयं चलकर इसे यहाँ खाने आवे, तो अरबों वर्षों में भी नहीं आ सकती। मृत्यु इसकी दो मुहूर्त के अन्दर ही है, कैसी होगी ? सो, गरुड़जी ! आपने उसे मृत्यु के द्वार पर ले जाकर पहुँचा दिया। वह बिल्ली भूखी थी, आज उसे भोजन न मिलता, तो मर जाती। अब उस कबूतर को खाकर वह तो जीवित हो गई और कबूतर मेरे लोक में पहुँच भी गया।"

यह सुनकर गरुड़जी भी हँसे और बोले—"भैया, विधि का विधान ऐसा ही अटल है। उसे अन्यथा करने की किसमें शक्ति है। उसी विधान के वशीभूत होकर अहङ्कार वश मैं उसे लोकालोक पर्वत पर छोड़ आया।" यह सुनकर हँसते हुए यमराज अपने लोक में चले गये और गरुड़जी भगवान् को लेकर वैकुण्ठ धाम की ओर उड़ गये।

सो, शौनकजी ! महाराज परीक्षित् को भावी ही इस ओर ले आई। यदि घड़ी भर पीछे महाराज आते, तो यह घटना घटित न होती। मुनि समाधि से निवृत्त होकर राजर्षि परीक्षित् का स्वागत करते, उन्हें पाद्य, अर्घ्य, फल, मूल देकर सत्कृत और सन्तुष्ट करते, किन्तु जो घटना जिस काल में होने वाली होती है, वह उसी काल में घटित हो जाती है।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! राजा ने मरा हुआ सर्प मुनि के गले में क्यों डाला ? यदि उन्हें उनका कुछ

अनिष्ट करना ही अभीष्ट था, तो जीवित सर्प डालते ? फिर ऋषि तो अहिंसा व्रती होते हैं, उनके आश्रम में तो स्वाभाविक वैर वाले जन्तु भी अपना नैसर्गिक वैर त्याग देते हैं। फिर वहाँ मरा सर्प कहाँ से आया ? ऋषि के उस पवित्र आश्रम में सर्प को किसने मार दिया ?"

यह सुनकर सूतजी हँसे और वोले—"मुनियो ! मैं पहिले ही निवेदन कर चुका हूँ, काल सव कुछ करा लेता है। तक्षक नाग के परिवार को जलाने के लिये अग्निदेव बहुत उत्सुक थे। किन्तु जिस समय खांडव वन जलाया गया, उस समय संयोगवश तक्षक कुरुक्षेत्र चला गया था, अतः वह तो वच गया, किन्तु उसकी पत्नी को, जो अपने पुत्र अश्वसेन को मुँह में दवाये हुए भागी जा रही थी, अर्जुन ने मारा। उसके मुँह में से उसका वच्चा अश्वसेन जीवित ही निकल गया। उसने अर्जुन से अपनी माता के मारने का बदला लेने के लिये कर्ण-अर्जुन के युद्ध में चेष्टा की। वह कर्ण के समीप जाकर वोला—"तुम मुझे वाण में चढ़ाकर अर्जुन पर छोड़ो। मैं उसे मार डालूँगा। किन्तु कर्ण वीर और स्वाभिमानी थे। उन्होंने इस बात को स्वीकार नहीं किया। वे गर्व के साथ बोले—"कर्ण दूसरे के वल पर युद्ध नहीं करता। मैं तुम्हारे ऐसे अनुचित प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर सकता। तुम्हारी जहाँ इच्छा हो चले जाओ।' किन्तु वह दुष्ट तो अर्जुन का प्राण लेने पर उतारू था। एक बार तो वह छिपकर वह कर्ण के वाण पर वैठ गया था और अर्जुन को मारने गया था। परन्तु जिसके रथ पर श्याम-सुन्दर स्वयं रक्षा के लिये वैठे हैं, उसे ऐसे करोड़ों नाग मारने में समर्थ नहीं हो सकते। श्रीकृष्ण ने कर्ण के वाण पर वैठे हुए नाग को आते देखकर घोड़े विठा दिये। निशाना

व्यर्थ गया। जब दुबारा कर्ण ने उसे फटकार दिया, तो वह अकेला ही अर्जुन को मारने चला। तब वह अश्वसेन नाग अर्जुन

के बाणों से कटकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। इससे तक्षक और

भी कुपित हुआ। पांडवों का तो कुछ बिगाड़ न सका, अब उनके वंशज परीक्षित् से उसका बदला लेना चाहता था। शौनकजी! वह विचारा क्या बदला लेना चाहता था, उसी के द्वारा महाराज की मृत्यु का विधान निश्चित था। इसीलिये वही सर्प वहाँ मृतक बनकर पड़ गया था। नहीं तो, वहाँ मरे सर्प का ऋषि के आश्रम में क्या काम। रही जीवित सर्प डालने की बात? सो, राजा कुछ मुनि के प्राण लेना तो चाहते ही नहीं थे। भूख प्यास के कारण उनको मुनि के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो आई थी। केवल परीक्षा के लिए उन्होंने सर्प डाल दिया, कि ये ढोंग बना रहे होंगे, तो गुल-गुले सर्प का स्पर्श पाते ही चौंक उठेंगे। तब मैं कहूँगा—"कहो, ढोंगी मुनि! तुम्हारी समाधि अब कहाँ चली गई?"

सर्प डालने के अनन्तर राजा को ध्यान ही नहीं रहा। वे आश्रम से बाहर आये। उनके साथी भी उनके घोड़े के पदचिह्नों को देखते हुए वहाँ आ पहुँचे। महाराज ने जल्दी से जल पिया और अतिकाल समझकर बिना उस सर्प को मुनि के गले से निकाले ही अपने नगर को चले गये।

छप्पय

पूछें शौनक—सूत! सर्प कौन तहँ मारयो।
मुनि आश्रम अति शांत जीव किहि अहिकूँ मारयो॥
सभी भाग्यवश करहिँ, सूत समझावहिँ पुनि पुनि।
मारे किनकूँ कौन—कौन जीवन देवे मुनि॥
अजी, कहा पूछहिँ प्रभो! विधि विधान अति विकट है।
बने बुद्धि वैसी वहीं, मृत्यु जहाँ जिहि निकट है॥

आगे की कथा खण्ड ५ में पढ़िये।